# महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

(संसद द्वारा पारित अधिनिय 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)

Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Wardha

(A Central University Established By Parliament By Act. No. 3 Of 1997)

ज्ञान शांति मैत्री

## बी.एड. पाठ्यक्रम (80 क्रेडिट)

## चतुर्थ सेमेस्टर

# 043- ज्ञान एवं पाठ्यचर्या

**दूर शिक्षा निदेशालय**

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र)

# चतुर्थ सेमेस्टर : शिक्षा 043- ज्ञान एवं पाठ्यचर्या


मार्गदर्शन समिति

प्रो. गिरीश्वर मिश्र
कुलपति
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. आनंद वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. अरबिंद कुमार झा
निदेशक (दूर शिक्षा निदेशालय)
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

पाठ्यचर्या निर्माण समिति

प्रो. अरबिंद कुमार झा
अधिष्ठाता, शिक्षा विद्यापीठ
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. गोपाल कृष्ण ठाकुर
सह प्रोफ़ेसर (शिक्षा विद्यापीठ)
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

श्री ऋषभ कुमार मिश्र
सहा प्रोफेसर (शिक्षा विद्यापीठ)
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

संपादन मंडल

प्रो. अरबिंद कुमार झा
निदेशक (दूर शिक्षा निदेशालय)
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

विद्याशंकर शुक्ल
पूर्व निदेशक,
केंद्रीय हिंदी संस्थान, सिलॉग

डॉ. गोपाल कृष्ण ठाकुर
सह प्रोफ़ेसर (शिक्षा विद्यापीठ)
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. शिरीष पाल सिंह
सह प्रोफ़ेसर (शिक्षा विद्यापीठ)
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

श्री ऋषभ कुमार मिश्र
सहा प्रोफ़ेसर (शिक्षा विद्यापीठ)
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

सुश्री सारिका राय शर्मा
सहा प्रोफ़ेसर (शिक्षा विद्यापीठ)
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. गुणवंत सोनोने
सहा प्रोफ़ेसर (दूर शिक्षा निदेशालय)
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. समीर कुमार पाण्डेय
सहा प्रोफ़ेसर (दूर शिक्षा निदेशालय)
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. आदित्य चतुर्वेदी
सहा प्रोफ़ेसर (दूर शिक्षा निदेशालय)
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

श्री ब्रम्हा नन्द मिश्र
सहा प्रोफ़ेसर (दूर शिक्षा निदेशालय)
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

इकाई लेखन
समन्वयक- डॉ. गोपाल कृष्ण ठाकुर

इकाई -1
डॉ. शिवा शुक्ला

इकाई -2
डॉ. शिवा शुक्ला

इकाई -3
डॉ. रामार्चा प्रसाद पांडये

इकाई -4
डॉ. भरत कुमार पंडा एवं श्री धर्मेन्द्र शंभरकर

कार्यालयीन एवं संपादकीय सहयोग

डॉ. एम.एम. मंगोड़ी
क्षेत्रीय निदेशक
दूर शिक्षा निदेशालय

डॉ. शंभू जोशी
सहा. प्रोफ़ेसर
दूर शिक्षा निदेशालय

श्री विनोद वैदय
सहा. कुलसचिव
दूर शिक्षा निदेशालय

डॉ. संजय तिवारी
सहा. प्राफ़ेसर
दूर शिक्षा निदेशालय

डॉ. रामार्चा प्रसाद पांडये
सहा. प्रोफ़सर
दूर शिक्षा निदेशालय

डॉ. रामानंद यादव
सहा. प्रोफ़ेसर
दूर शिक्षा निदेशालय

अरबिंद कुमार
तकनीकी सहायक
दूर शिक्षा निदेशालय

सचिन सोनी
सॉफ्टवेयर विशेषज्ञ
दूर शिक्षा निदेशालय

गुड्डू यादव
कंप्यूटर ऑपरेटर
दूर शिक्षा निदेशालय

सुश्री राधा ठाकरे
टंकक
दूर शिक्षा निदेशालय

# अनुक्रम


| **क्र.सं.** | **इकाईयों का नाम** | **पृष्ठ संख्या** |
|---|---|---|
| 1. | **इकाई - 1** ज्ञान मीमांसा एवं शिक्षा का सामाजिक सन्दर्भ | 3-19 |
| 2. | **इकाई - 2** पाठ्यक्रम शिक्षा समाज और आधुनिक मूल्य | 20-47 |
| 3. | **इकाई - 3** पाठ्यक्रम | 48-59 |
| 4. | **इकाई - 4** पाठ्यचर्या, पाठ्यचर्या का अर्थ, पाठ्यचर्या और पाठ्यक्रम में संबंध पाठ्यक्रम के उद्देश्यी, पाठ्यचर्या की आवश्यकता एवं महत्व, पाठ्यचर्या के प्रकार, समय सारिणी, समय सारिणी का अर्थ, समय सारिणी बनाने में कठिनाइयाँ, मुख्याध्यापक तथा समय-सारिणी पाठ्य पुस्तक, पाठ्य पुस्तकों का महत्व, पाठ्य-पुस्तकों की विशेषताएँ, पाठ्य-पुस्तकों की समीक्षा | 60-80 |


ज्ञान शांति मैत्री

## बी.एड. पाठ्यक्रम (चतुर्थ सेमेस्टर)
## ज्ञान एवं पाठ्यचर्या (दूर शिक्षा निदेशालय)
## इकाई परिचय

**प्रिय विद्यार्थियों,**

बी.एड. पाठ्यक्रम (चतुर्थ सत्र) के प्रश्न शिक्षा 043 ज्ञान एवं पाठ्यचर्या में आपका स्वागत है। इस प्रश्नपत्र को चार इकाईयों में विभाजित किया गया है।

प्रथम इकाई ज्ञान मीमांसा एवं शिक्षा का सामाजिक सन्दर्भ के अन्तर्गत ज्ञान मीमांसा की संकल्पना, सामाजिक शिक्षा की संकल्पना ज्ञान और कौशल, अध्यापन और प्रशिक्षण, ज्ञान, तर्क और विश्वास को बताया गया है। इसके साथ-साथ विद्यार्थी केन्द्रित शिक्षा, क्रियाकलाप और गांधी, डीवी और प्लेटों के सन्दर्भ में खोज व संवाद की संकल्पना को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

द्वितीय इकाई में पाठ्यक्रम-शिक्षा समाज और आधुनिक मूल्य विषय के अन्तर्गत समाज, संस्कृति, आधुनिकता, औद्योगीकरण, लोकतन्त्र एवं वैयक्तिक स्वायत्ता, अम्बेडकर के सन्दर्भ में मूल्य शिक्षा, वैयक्तिक अवसर, सामाजिक न्याय एवं नैतिकता और शिक्षा, राष्ट्रीयता के साथ-साथ वैश्विकता एवं धर्म निरपेक्षता का शिक्षा से अन्र्तसम्बन्ध को समझाया गया है।

तृतीय इकाई में पाठ्यक्रम से सम्बन्धित बिन्दुओं को स्पष्ट किया गया है जिसमें पाठ्यक्रम का अर्थ, परिभाषा, उद्देश्य, रूपरेखा, पाठ्यक्रम निर्माण के सहगामी घटक, विकास के उपागम, निर्माण की प्रक्रिया, मूल्यांकन की प्रक्रिया, पाठ्यक्रम निर्माण में शासन व सामाजिक घटकों की भूमिका को सम्मिलित किया गया है।

चतुर्थ इकाई के अन्तर्गत ज्ञान एवं पाठ्यचर्या से सम्बन्धित मुख्य बिन्दुओं को समझाने का प्रयास किया गया है जिसमें पाठ्यचर्या से सम्बन्धित पाठ्यक्रम का अर्थ, पाठ्यक्रम और पाठ्यचर्या में सम्बन्ध, उद्देश्य आवश्यकता एवं महत्व व पाठ्यचर्या के प्रकार बताया गया है। साथ ही समय सारिणी का अर्थ, महत्व आवश्यकता प्रकार सिद्धान्त व समय सारिणी बनाने में होने वाली कठिनाइयों को बताया गया है। साथ ही साथ पाठ्यपुस्तक का महत्व, विशेषताएं व पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा करना बताया गया है।

# इकाई - 1
## ज्ञान मीमांसा एवं शिक्षा का सामाजिक सन्दर्भ

**इकाई की संरचना**


**1.1 ज्ञान मीमांसा की संकल्पना**
**1.2 सामाजिक शिक्षा की संकल्पना**
**1.3 ज्ञान और कौशल**
**1.4 अध्यापन और प्रशिक्षण**
**1.5 ज्ञान**
**1.6 तर्क एवं विश्वास**
**1.7 विद्यार्थी केन्द्रित शिक्षा**
**1.8 क्रियाकलाप**
**1.9 खोज एवं संवाद की संकल्पकना: गांधी, डीवी और प्लेटो के सन्दर्भ में**
**1.10 प्रगति की जाँच के लिए अपेक्षित प्रश्न**
**1.11 सन्दर्भ पुस्तके**


### 1.1 ज्ञान मीमांसा की संकल्पना

जिस क्षण से मानव मात्र ने अपने अस्तित्व को पहचाना व उस पर चिंतन और विमर्श करना प्रारम्भ किया, दर्शन उसके विचार प्रक्रिया का अभिन्न अंग हो गया एवं जब से दर्शन अस्तित्व में आया कहा जाता है ज्ञान की अवधारणा, मीमांसा व विवेचना की प्रक्रिया का तभी से प्रादुर्भाव हुआ है। ज्ञान संबंधित समस्यायें दर्शन का सदैव प्रमुख विषय रही है। इसलिए ज्ञान की विवेचना दर्शन का प्रमुख अंग है। जिसमें मुख्यतः निम्नलिखित प्रश्नों का हल ढूंढा जाता है-

1) ज्ञान क्या है ?
2) ज्ञान के साधन क्या हैं ?
3) विश्व सम्बन्धी ज्ञान में ज्ञाता-ज्ञेय का सम्बन्ध किस प्रकार का है ?
4) ज्ञान की सत्यता व असत्यता कैसे निर्धारित की जाती है ? इत्यादि

दर्शन का वह भाग जिससे मानव ज्ञान की व्युत्पत्ति, अवधारणा, प्रकृति, तार्किकता, प्रसंगिकता, विश्वास,औचित्य व सीमाओं पर विमर्श किया जाता है उसे ज्ञान मीमांसा कहतें है। ज्ञान कई तरह का हो सकता है, कुछ करने या जानने का तरीका, किसी व्यक्ति या स्थान को जानना इत्यादि। जानना, समझना, परिचय इत्यादि ज्ञान के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होतें हैं परंतु इन पर्यायवाची को हम कभी ज्ञान के विकल्प के रूप में प्रयुक्त नहीं कर सकते हैं। जैसे आप अपने शिक्षक को जानतें है अथवा आपका अपने शिक्षक से परिचय है, ऐसा कहा जा सकता है लेकिन आप को अपने शिक्षक का ज्ञान है ऐसा कथन सुनने में तर्कसंगत नहीं लगता है।

आदर्शवादी अथवा प्रत्ययवादी चिंतन कहता है की विचार सर्वव्यापी, सार्वभौमिक व सार्वकालिक हैं। प्लेटो का मत था कि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान अपूर्ण है व पूर्णज्ञान संप्रत्ययों में है। उन्होंने इसे डायलेक्टिक कहा। डेकार्ट ने कहा दुनिया का सबसे निःसंदेह सत्य यह है कि हम संदेह करतें है। क्योंकि हम विचार करतें है इसलिए ज्ञान विचारों में है। उन्होंने ऐसे ज्ञान की संकल्पना की जिस ज्ञान पर कभी संदेह नहीं किया जा सकता है। अतः निसंदेह ज्ञान सारे ज्ञान की आधारशिला है ज्ञान के सन्दर्भ में देकार्त का कथन है- 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ'. बिशप जॉर्ज बर्कले ने तो बाह्य जगत के हर प्रमुख व गौड़ गुणों को भी मानसिक कहा। 'सत्ता दृश्यूता है' अपने इस वाक्य को समझाते हुए वे कहते हैं कि प्रत्येक गुण जो हम अपनी इन्द्रियों से अनुभूत करतें है वे सब हमारे मनस में अस्तित्व रखती है न कि किसी बाह्य जगत में इसलिए सत्ताथ अनुभवमूलक होती है। इमैनुएल कांट ने ज्ञान को 'संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय' कहा है। अन्य शब्दों में ज्ञान वह है जो अनिवार्यता, सार्वभौमता, सत्यता, वास्तविकता तथा नवीनता इत्यादि गुणों से युक्त हो। हेगेल के अनुसार सत्ता तथा उससे सम्बधित ज्ञान में समरूपता होती है तथा हमारा ज्ञान तर्कबुद्धि परक होता है। मानव उस सीमा तक ही ज्ञान प्राप्त कर पाता है जिस सीमा तक सत्ता और ज्ञान के मध्य समरूपता बनी रहती है इसलिए जिस प्रक्रिया एवं अनुक्रम में विश्व का विकास होता है मानव को भी 'ज्ञान' के लिए तीव्र गति से उसी प्रक्रिया एवं अनुक्रम को अपनाना होगा। जिससे समरूपता बनी रहे, और सत्याता तक पहुँचा जा सके।

यदि हम यथार्थवादी संकल्पनाओं से विमर्श करें तो चर्चा सबसे पहले अरस्तु की होती है। उन्होंने कहा की ज्ञान संपूर्ण निरूपण में है, जो कर के दिखाया जा सकता है वही ज्ञान है। जॉन लॉक ने मानव मनस को (कोरा कागज) टेबुला रासा की संज्ञा दे कर कहा है कि व्यक्ति का मनस जन्म से खाली पटल की तरह होता है, वह जब अनुभव करता है तब उस पटल पर जो लिखा जाता है वह उसका ज्ञान हो जाता है। ज्ञान की प्रकृतिवादी संकल्पना पे जाएं तो सम्पूर्ण ज्ञान हमारी प्रकृति उसके नियमों तथा उसके साथ तारतम्यता में रहने से है। रूसो तथा टैगोर के दर्शन में सामाजिक कृतिमता से अलग मानव को अपने प्राकृत रूप में प्रकृति से अनुरूपता बनाते हुए अपना ज्ञान स्वयं ढूंढने को प्रेरणा परिलक्षित होती है।

यदि अर्थ क्रियावादी मत को ध्यान में रखें तो विलियम जेम्स के अनुसार सत्य अनुभव आश्रित तथा उपयोगी होता है इसलिए सत्य क्रिया में फलीभूत होता है। अत: यदि कोई संप्रत्यय सफलता में फलीभूत होता है तो वह ज्ञान है, जो सफल है वह सत्य है और जो सत्य है वही ज्ञान है।

भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में ज्ञान की अवधारणा आध्यात्मिकता से जुडी रही है। जैन दर्शन के अनुसार किसी भी वस्तु, प्रत्यय इत्यादि का ज्ञान हमें कभी भी एक साथ सम्पूर्णता में नहीं होता है, मानव एक समय पर किसी भी विषय या वस्तुं के केवल एक गुण अथवा पक्ष का ही ज्ञान प्राप्त करता है। सत्य व संपूर्ण ज्ञान 'केवली' अर्थात मुक्त आत्माओं को ही होता है जो कि असंदिग्ध व दोषहित यथार्थ ज्ञान होता है। जो सम्पूर्णता के साथ होता है। बौद्ध मत के अनुसार अविद्या से ही मिथ्या दृष्टि उत्पन्न होती है और हम अनात्मा, अनित्य और दुःखद को सत्य मान लेतें हैं। बौद्ध दर्शन में चार आर्यसत्यों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त, करने के साथ ही निर्वाण प्राप्ति का मार्ग बताया गया है, जिसे अष्टांगिक मार्ग कहा जाता है, जिसका अनुसरण गृहस्थों व सन्यासियों सहित सभी मनुष्यों को करना चाहिए।

न्याय दर्शन वस्तुओं की अभिव्यक्ति अथवा प्रकाशित स्थिति को ज्ञान कहता है, जिस प्रकार किसी दीपक का प्रकाश वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान भी अपने विषय को प्रकाशित करता है। न्याय दर्शन में ज्ञान के दो भेद किए गए है – प्रमा तथा अप्रमा।

1) प्रमा-प्रमा यथार्थ ज्ञान है, वह किसी भी वस्तु विषय अथवा पदार्थ का असंदिग्ध तथा यथार्थ अनुभव है। प्रमा के चार प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान।
2) अप्रमा-प्रमा के अतिरिक्त जो ज्ञान है उसे अप्रमा कहते हैं। अप्रमा के चार भेद हैं- स्मृति, संशय, भ्रम और तर्क.

**अपनी प्रगति जांचिए:**

**1)** ज्ञान शब्द से आप क्या समझतें हैं ? स्पष्ट कीजिये।
**2)** ज्ञान की पाश्चात्य दर्शन के अनुसार क्या अवधारणा है ? समझाइये।
**3)** भारतीय दर्शन के अनुसार ज्ञान क्या है ?

## 1.2 सामाजिक शिक्षा की संकल्पना

समाजशास्त्रीय रूप से देखा जाए तो शिक्षा वह प्रक्रिया है जिससे व्यक्ति तथा व्यक्तित्व में समाहित व अन्तर्निहित गुणों का सर्वांगीण विकास होता है। शिक्षा द्वारा उसका सामाजीकरण होता है तथा अपने समाज के उपयोगी हिस्सा बनने हेतु उसे जिस कौशल व ज्ञान की आवश्यकता होती है, उसे ग्रहण करता है। वैसे सामाजीकरण एक सामाजिक प्रक्रिया है जहां व्यक्ति अपना व्यवहार समाज की अपेक्षा व आवश्यकताओं के अनुरूप ढालता है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में शिक्षण की विकसित संस्थाएं प्राचीनकाल से स्थित रही हैं। शिक्षा गुरू-शिष्य परम्परा के माध्यम से ही प्रतिपादित होती थी। नालन्दा, तक्षशिला व विक्रमशिला प्राचीन काल के प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय व अधिगम केन्द्र थे। प्राचीन भारत में जो शिक्षा दी जाती थी उसमें आध्यात्मिकता का सम्मिश्रण होता था तथा शिक्षा पूर्ण सत् व सत्य की प्राप्ति में सहायक होती थी उक्तकालीन शिक्षा के यह प्रमुख अंग होते थे-

- आलोचनात्मक समीक्षा: दर्शन, मूल्य, तर्क, गणित, साहित्य, व्याकरण आदि।
- तकनीकी एवं वृत्तिक कौशल व ज्ञान: आयुर्वेद, वास्तुशास्त्र इत्यादि।
- आतंरिक अध्ययन के विषय: धर्म अध्यात्म, मूल्य मीमांसा जैसे ध्यान, योग इत्यादि।

मानव मूल प्रवृत्ति से ही सामाजिक प्राणी है। शिक्षा को जब सामाजिक पृष्ठभूमि में समझा जाता है तो उस प्रक्रिया में मानव के व्यक्तिगत सत्ता की अवधारणा व विकास से लेकर उसके सामाजीकरण द्वारा समाज के एक हिस्से के रूप में विलय तक की यात्रा, गति, स्तरीकरण, उन्मुखता इत्यादि को ध्यान में रखा जाता है।

शिक्षा जब व्यक्तिगत उद्देश्यं को लेकर होती है तो उसकी अवधारणा देश-काल के अनुरूप व्यक्तिगत हित व विकास से प्रभावित होती है। व्यक्तिगत उद्देश्य पर ध्यान केन्द्रित करें तो शिक्षा व्यक्ति को निपुण, सफल व समर्थ बनाने में सहायक होती है। शैक्षिक विचारों में रूसों का 'रूमानीवादी प्रकृतिवाद' इस बात पर बल देता है कि हर व्यक्ति का अपना स्वयं का व्यक्तित्व है जिसे वो सामाजिक बंधनों में बांधकर अपनी मूल प्रवृत्ति से परामुख नही हो सकता। रूसों ने व्यक्तित्व निखारने के लिए समाज को हाशिये पर रखा किन्तु उनके शैक्षिक विचारों को वह सत्यापन स्वीकृति नहीं मिली जो मिलनी चाहिए क्योंकि कहीं ना कहीं वह व्यक्ति व समाज को परस्पर विरोधी बताते हैं।

**शिक्षा और समाज:** शिक्षा के सामाजिक उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए हम यह पाते है कि शिक्षा की सामाजिक अवधारणा समाज के हर सदस्य पर लागू होती है। सामाजिक उद्देश्यों को जब ध्यान में रखा जाए तब शिक्षा मूलभूत होती है, तब वह उन मानवीय गुणों को निखारने में, जिससे समाज एक सौहार्दपूर्ण वातावरण में उन्नति करें, सहायक होती है। शिक्षा तब अहिंसा, विश्वशांति, दया व सामाजिक न्याय जैसे गुणों पर आधारित होती है।

शिक्षा के सामाजिक संदर्भ को जर्मनी के महान दार्शनिक हीगल की कृतियों से प्रभावित जर्मनी की शैक्षिक व्यवस्था में भी देखा जा सकता है कि किस प्रकार दार्शनिक विचारों नें जर्मनी की शिक्षा व्यवस्था को प्रभावित व परिभाषित किया। उक्त समय में हीगल के अनुसार निज व्यक्तिगतता सत्य नहीं बल्कि राज्य ही एक व्यक्ति है। राज्य का हर सदस्य अस्तित्ववान है राज्य की उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए। हीगल की यह सोच जब पाठ्यक्रम में आई तब जर्मनी में राज्यवाद व सैन्योमुखीकरण का उद्भव हुआ व शिक्षा का मुख्य लक्ष्य हो गया, राष्ट्रवादी सैनिक बनाना जिनका जीवन राज्य के लिए होगा, इस प्रकार हम देखते है कि समाज में चल रही विचारधारा भी शैक्षिक उद्देश्य को निर्धारित करती है।

इस तरह से देखा जाए तो शिक्षा की सामाजिक संकल्पना में यदि व्यक्तिगतता का अतिरेक हो तो उसे सामाजिक स्वीकृति मिलने में मुश्किल होती है और जब निज सत्ता को सामाजिक स्वीकृति नहीं मिलती है तब समाज की सोच में विभिन्नता और वैयक्तिक स्वायतन्ता में कमी आ जाती है। सामाजिक शिक्षा पर चिंतन हमेशा से ही इन दो चरम छोर के मध्य सामंजस्य स्थापित करना रहा है। इन दो उद्धेश्यों का सामंजस्य हमेशा समाज की मुख्यधारा व सोचने समझने के तरीके पर आधारित होता है। ऐसे में व्यक्तिगत व सामाजिक शैक्षिक उद्धेश्यों के मानदण्ड को हम इनके मूलस्वरूप व अवधारणा पर चिंतन कर के ही समझ सकते हैं।

सामाजिक सदस्यता की संकल्पना के साथ व्यक्तित्व विकास को हम निम्नलिखित रूप में समझ सकते है-

- मानसिक, शारीरिक गुणों व कौशलों का विकास।
- सामाजिक साझेदारी व नैतिक मूल्यों का विकास जैसे - सत्य, अहिंसा, अस्तेय, सहयोग इत्यादि।
- आध्यात्मिक व्यक्तित्व का विकास। यहां आध्यात्मिक अस्तित्व का अर्थ धार्मिक या दार्शनिक होकर ऐसी सत्ता होना है, जिसका अपने 'स्व' व 'स्वरूप' पर पूर्ण अधिकार हो।
- शिक्षा से सामाजिक उद्देश्य, पूर्ति से आशय यह होता है कि –
- व्यक्ति द्वारा अपने दायित्वों व कर्तव्यों का निर्वाहन।
- व्यावसायिक कार्य क्षमता व मानवीयता के साथ व्यक्ति का समाज से जुड़ाव।
- सामाजिक नेतृत्व ऐसे समाज कल्याण की भावना के साथ, जिसमें व्यक्ति समाज के साथ खुद को किसी अवपीड़न की भावना के बिना जुड़ा महसूस करें।

इस तरह से देखा जाए तो व्यक्ति में समाज व समाज में व्यक्ति निहित है व दोनों परस्पर बिना अन्तरविरोध के एक दूसरे के सहायक बन विकास की ओर अग्रसर हो, ऐसी सुचारू व्यवस्था ही सामाजिक शिक्षा का क्षेत्र होती है।

**अपनी प्रगति जाँच लीजिये:**

**1)** समाज व शिक्षा एक दूसरे में अन्तर्निहित/अन्तरनिहित है. समझाइये।

## 1.3 ज्ञान और कौशल

सत्य जैसा है वैसा जानना ही ज्ञान है -सुकरात

ज्ञान की अवधारणा में हमने समझा चाहे ज्ञान स्वयं का हो, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा निष्पादित हो या जड़ जगत की वस्तुओं का ज्ञान हो हर परिप्रेक्ष्य में अपनी अवधारणा के साथ ज्ञान पर चिंतन वांछनीय है।

ज्ञान की मीमांसा के साथ दर्शन का हमेशा से ध्यान कौशल के विभिन्न स्वरूप व कौशल विकास में विहीत ज्ञान पर भी रहा है।

सुकरात ने अपने शिष्य प्लेटो के साथ परिचर्चा में कौशल पर निरंतर विचार करते हुए कहा था की कौशल चार प्रकार के होते हैं -

- मेडिसिन (औषधीय)
- फिजिकल ट्रेनिंग (शारीरिक)
- जजिंग (न्याय)
- रेगुलेटिंग (विनियमन)

उन्होंने प्रथम दो कौशल को एक समूह मानकर कहा था कि ये कौशल शारीरिक प्रशिक्षण की ओर केन्द्रित है व बाद के द्वय कौशल को दूसरे समूह में सम्मिलित करके कहा कि उक्त दोनों के आत्मिक प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। इस पर आगे चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि औषधीय कौशल का उपयोग चिकित्सकीय पद्धतियों के लिए है इसलिए यह कौशल स्वास्थ्य संवर्धन के लिए प्रयोग होता है। अतः कहा जा सकता है कि कौशल का उद्देश्य हमेशा उसके ज्ञान में रहता है। अतः ज्ञान व कौशल एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित है। आदर्शवादी विचारक प्लेटो ने अपने संवाद में ज्ञान व कौशल को एक दूसरे में परस्पर व्याप्त मानते हुए एक दूसरे से जुड़ा हुआ बताया है ।

अरस्तू जो ज्ञान के आनुभविक सत्यापन करने के प्रवर्तक रहे हैं, उन्होंने आत्मन के दो भाग बताऐं हैं। पहला है वैज्ञानिक भाग व दूसरा है परिकलन (calculating) भाग। परिकलन भाग व्यावहारिक सोच रखता है व उसे सत्य व मिथ्या का ज्ञान कर्म के द्वारा होता है। वैज्ञानिक भाग सैद्धांतिक सोच पर आधारित व उन सिद्धांतों पर ही सत्य व मिथ्या से साक्षात्कार करता है।

अरस्तु ने ज्ञान के पांच गुण बताऐं हैं ।

- टेकनेक
- एपिस्टिम
- फ्रोनेसिस
- सोफिया
- नुस

वे प्रथमत: दो ज्ञानों के गुणों के बीच भिन्नता बताते हुए कहते हैं कि ये ज्ञान वे वैज्ञानिक ज्ञान हैं जो बदलते नहीं हैं व जिन्हेंप प्रदर्शित किया जा सकता है । अतः ये दो प्रथम गुण परस्पर सहयोगी एवं पूणता में प्रदर्शनीय है।

ज्ञान और कौशल पर चर्चा हम डीवी के ''यांत्रिकवाद'' में भी देख सकते हैं । उनके अनुसार विचार का प्रयोजन मानवीय रूचियों को संतुष्टि प्रदान करना है। विचार अनुभव में अन्तरनिहीत होता है व अनुभव से परे कोई विचार नहीं होता है। इस तरह सत्य निरपेक्ष ना होकर अनुभव आश्रित है। विचार की सफलता उसके कार्यात्मक परिणाम से लगाया जा सकता है क्योंकि सत्य का मूल्य वह है जो क्रिया में प्रस्फुटित होता है। उनके विचारों को कारणवाद, प्रयोगवाद, व्यवहारवाद इत्यादि कहा जाता है क्योंकि उन्होंने मस्तिष्क व ज्ञान को उपकरण के रूप में प्रयोग किया है। अतः ज्ञान का उपयोग कौशल के प्रयोग व विकास में किया है। कौशल विकास के संदर्भ में प्रयोगवाद भी महत्वपूर्ण है क्योंकि डीवी ने ज्ञान की प्रक्रिया को वैज्ञानिक प्रयोगशाला की अनुरूपता में कार्य करने वाला माना है। इसीलिए यदि ज्ञान का पूर्ण उपयोग करना है तो वैज्ञानिक विधि का प्रयोग करना पड़ेगा। ज्ञान व कौशल का यह अन्योन्याश्रित संबंध डीवी के प्रयोग किलपैट्रिक के प्रयोजनवाद में भी देखा जा सकता है। किलपैट्रिक ने दर्शन को जीवन के संघर्ष के साथ जीवन जीने के लिए बताया है। वैज्ञानिक प्रतिमानों से हर ज्ञान की व्याख्या की जा सकती है। सामाजिक अन्तव: क्रिया से ही अन्तरनिर्भरता का विकास होता है जो शैशवास्था से लेकर जीवन पर्यन्त चलता है। इस तरह वैज्ञानिक विधि का प्रयोग कर हर व्यक्ति ज्ञान का सदुपयोग कर सकता है। किलपैट्रिक की मान्यता डीवी से मिलती जुलती है तथा अनुभव से सीखने व कार्य करके स्वयं ज्ञान अर्जित करने पर बल देती है।

भारतीय दार्शनिक निकायों पर ध्यान दिया जाए तो पातंजलि के योग सूत्र में ज्ञान की प्राप्ति, मुक्ति एवं विकास के लिये योगाभ्यास और प्रक्रियाओं के उपयोग की बात अष्टांगिक योग साधन में दृष्टिगोचर होती है । नैतिक, स्व नियमन व अपने स्वास्थ्य पर ध्यान देकर हम अपने आध्यात्मिक विकास पर ध्यान दे सकते हैं । इस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य संवर्धन के साथ ज्ञान प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। इस पातंजलिकृत योगसूत्र में शारीरिक कौशल व ज्ञान का अद्भुत संगम अष्टां ग मार्ग है जिसका अनुपालन एवं अनुशीलन परम् सत्ता को पाने के लिए सर्वधा उपयुक्त है।

**अपनी प्रगति जाँच लीजिये:**

**1)** ज्ञान साधना व कौशल विकास पर दिए गये दर्शन की चर्चा कीजिये.

ज्ञान शांति मैत्री

## 1.4 अध्यापन और प्रशिक्षण

**1.4.1** शिक्षण व अध्यापन ने हमेशा से व्यक्ति को समाज से जोड़ने का कार्य किया है अतः अध्यापन साध्य नहीं साधन है शिक्षा प्राप्त करने का। अध्यापन प्रक्रिया जटिल होती है। अध्यापन कार्य का मुख्य उद्देश्य होता है शिक्षार्थी के व्यवहार में परिवर्तन लाना। अध्यापन प्रक्रिया को सैद्धांतिक व व्यावहारिक रूप से कला व विज्ञान दोनों के रूप में मान्यता हैं। औपचारिक शिक्षा प्रणाली में अध्यापन को संकुचित अर्थ में लिया जाता है, जिसमें निश्चित विधियों के साथ, निश्चित समय में, निश्चित स्थान पर पूर्वनियोजित तरीके से शिक्षण दिया जाता है। अध्यापन अपने व्यापक स्वरुप में वह प्रक्रिया हो जाती है जिसके अन्तेर्गत व्यक्ति अपने समाज, परिवार, कार्य-व्यवसाय इत्यादि में ----- सीखता एवं सीखाता है तथा वे सभी क्रियाकलाप सम्मिलित होतें हैं जो जीवन कार्य के लिए आवश्यक होते हैं। अध्यापन

आवश्यक ज्ञान, नैतिक मूल्य और बोध के विकास के प्रति उन्मुखता रखता है, जिसके द्वारा ज्ञानात्मक पक्ष व भावात्मक पक्ष के विकास पर अधिक बल दिया जाता है.

अध्यापन की कई तरह से व्याख्या की जा सकती है,

- कुछ जानने या समझने में सहायक होना
- शिक्षा को प्रशस्त करना
- ज्ञान अर्जित करने में सहायक होना
- उदाहरण या अनुभव के आधार पर दृष्टिगम्या बनाना इत्यादि।

**1.4.2** किसी दिए गये कार्य को उचित ढंग से संपादित करने के लिए विशेष दृष्टिकोण, अभिवृत्ति, ज्ञान, कौशल, एवं व्यवहार के क्रमबद्ध विकास का नाम प्रशिक्षण है। यह व्यवहार हर कार्य के लिए अलग-अलग होता है। प्रशिक्षण वह सम्प्रेषण व्यवहार है जिसमें आचरण तथा व्यवहार को बदल देने पर अधिक बल दिया जाता है, इससे क्रियात्मक पक्ष का विकास किया जा सकता है। यहाँ ज्ञान, अभिवृत्ति, कौशल एवं व्यवहार को प्रशिक्षण के परिप्रेक्ष्य में समझ लेना उचित है।

**ज्ञान:** तथ्य, प्रत्यय, पद, सिद्धांत, सामान्यीकरण आदि का सम्मिलित रूप ज्ञान है। प्रशिक्षण में इस बात की जानकारी आवश्यक है कि कार्य की प्रकृति के अनुसार ज्ञान का कौन सा भाग आवश्यक है.

अभिवृत्ति: अपने कार्य की सावेगिक मानसिकता का नाम अभिवृत्ति है. जिसमें किसी वस्तु या कार्य के प्रति भाव निहित होता है एवं इसके अभाव में प्रशिक्षण कार्य सफल नहीं सकता।

कौशल: कौशल मनोशारीरिक विशेष कार्य है जिनकी आवश्यकता व्यक्ति को किसी विशेष कार्य में उसे पूर्ण करने में होती है, जो व्यक्ति के क्रियात्मक पक्ष से संबंधित है।

**व्यवहार:** प्रशिक्षण में व्यवहार किसी कार्य को संपादित करने का ढंग माना जाता है. हर कार्य के वांछनीय व्यवहार पृथक होते हैं।

इस तरह कह सकतें हैं कि प्रशिक्षण होता है -

- निर्देशन, अभ्यास एवं अनुशासन द्वारा आकृत करना, या
- किसी कौशल के परीक्षण के लिए तैयार करना.

अतः इस तरह किसी भी प्रशिक्षण का प्रकाश बिन्दु हमेशा कोई कौशल होता है, जिसमें इच्छित निपुणता प्राप्ति का लक्ष्य होता है। प्रशिक्षण तब तक चलता है जब तक उक्त कौशल पे महारथ हासिल न जाए और उस कौशल को सम्पादित करने में कोई भी कठिनाई न हो।

### 1.4.3 अध्यापन व प्रशिक्षण में अंतर

| क्रमांक | प्रशिक्षण | अध्यापन |
|---|---|---|
| 1 | प्रशिक्षण के उद्देश्य अतिविशिष्ट होते हैं | अध्यापन के उद्देश्य सामान्य से |

| | | |
|---|---|---|
| | | विशिष्ट होते हैं. |
| 2 | प्रशिक्षित होने पर प्रशिक्षणार्थियों में कुशलता का विकास होता है. | अध्यापन होने पर व्यवहार में परिवर्तन एवं विकास वांछनीय है. |
| 3 | प्रशिक्षण किसी कार्य के उचित सम्पादन के लिए अति विशिष्ट ज्ञान, अभिवृत्ति कौशल और व्यवहार के विकास पर बल देता है. | अध्यापन जीवन के प्रत्येक कार्य के लिए आवश्यक ज्ञान तथा नैतिक मूल्यों के विकास से सम्बंधित प्रक्रियाओं पर अधिक बल देता हैं. |
| 4 | हर कार्य का प्रशिक्षण पृथक दिया जाता है जिसके द्वारा उस कार्य के कौशल में निपुणता लाने के लिए नियोजित किया जाता है । जैसे- अध्यापक- प्रशिक्षण, सैन्य-प्रशिक्षण इत्यादि । | अध्यापन में प्रशिक्षण की तरह पृथकता नहीं होती है, अध्यापन सब के लिए सामान्य रूप से एक होता है. |
| 5 | प्रशिक्षण का सम्बन्ध जन अधिगम से होता है. जिससे की कार्य का सम्पादन उचित प्रकार की विशिष्टता से किया जाये । | अध्यापन ऐसी आवश्यक परिस्थिति प्रदान करती है जो विद्यार्थियों को सामाजिक परम्पराओं तथा विचारों का बोध कराता है तथा सामाजिक स्थिति को सकारात्मक रूप में प्रभावित करता है. |

**अपनी प्रगति जाँच लीजिये :**

**1)** अध्यापन व प्रशिक्षण में क्या अंतर है, स्पष्ट कीजिये.

## 1.5 ज्ञान और सूचना

### ज्ञान

ज्ञान की स्थिति में अन्तरनिहित है कि एक ओर ज्ञाता व एक ओर ज्ञेय पदार्थ होता है । जब ज्ञाता ज्ञेय पदार्थ के साथ इन्द्रियो के माध्यम से सम्पर्क मे आता है तब उसे ज्ञेय पदार्थ की चेतना होती है, जिसे साधारणत: ज्ञान की संज्ञा दी जाती है । अत: ज्ञान का सदैव एक विषय होता है व किसी चेतना युक्त ज्ञाता को उस विषय का ज्ञान होता है । हमारे साधारण ज्ञान में ज्ञाता तथा ज्ञेय का यह द्वैत अत्यन्त महत्वपूर्ण है । भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन के कुछ महत्वपूर्ण

निकायों तथा दार्शनिको के मतानुसार ज्ञान की प्रक्रिया के प्रारम्भ में यह द्वैत भले ही रहता हो, समुचित ज्ञान प्राप्ति के बाद यह द्वैत बिल्कुल समाप्त हो जाता है। ज्ञाता तथा ज्ञेय एक दूसरे से अभिन्न हो जाते है। अर्थात ज्ञाता ज्ञेय के साथ तादात्य स्थापित कर के ही उसका ज्ञान प्राप्त करता है। पुन: असाधारण व अलौकिक ज्ञान का वह प्रकार है जो हमारे दैनिक जीवन के ज्ञान से भिन्नत है और ऐसे ज्ञान को वास्तविक सत्य की संज्ञा दी जाती है।

अनेको दार्शनिकों ने ज्ञान को मानसिक स्थिति के रूप में प्रतिपादित एवं प्रदर्शित किया है, जैसे कि किसी विषय का हमें ज्ञान हुआ इसका तात्पर्य यह है कि वह वस्तुं वैसी ही है जैसा कि हम उसे जानते है तथा उसकी सत्ता ज्ञाता की सत्ता पर निर्भर करती है। परन्तु व्यवहारवादी ज्ञान की संकल्पना के अनुसार ज्ञान मानसिक स्थिति होकर कुछ खास व्यवहार करने की योग्यदता है। जैसे यदि हमें लैटिन भाषा का ज्ञान हुआ, का आशय यह है कि हम लैटिन भाषा लिख सकते है, पढ़ सकते है, उसका अर्थ समझ सकते है तथा दूसरों को अर्थ समझा सकते हैं। इस तरह ज्ञान का मानसिक व व्यवहारवादी दृष्टिकोण रखा गया।

ज्ञान का एक अर्थ परिचय से भी है। जैसे आप किसी अमुक व्यक्ति को जानते हैं पर आप उस अमुक व्यक्ति को पूर्णत: जानते है या उसके हर पक्ष का ज्ञान रखते है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। पुन: जानने का एक अन्य अर्थ है किसी कार्य मे क्षमता हासिल करना। जैसे मैं तैरना जानता हूँ आदि। दूसरे शब्दोंक मे कुछ जानने का अर्थ किसी विशेष कार्य को सम्पन्न। करना व कराना होता है।

साथ ही ज्ञान की एक अन्य संकल्पना हैं जिसके अनुसार किसी वस्तुर का ज्ञान होने से आशय यह होता है कि उस वस्तु के संबंध मेंकुछ प्रतिज्ञप्तियाँ है जो सत्य हैं और जिनकी जानकारी हमें है।

**सूचना**

सूचना पद का अर्थ किसी भी विषय, वस्तुा तथा पदार्थ के अन्तर्वस्तुं के सम्बन्धन में सूचित करना, कहना, जानकारी का आदान-प्रदान करना आदि से होता है। सूचना का अंग्रेजी रूपान्त्रण इनफार्मेशन लैटिन शब्द फॉर्मेटिया अथवा फोरम से बना है। ये दोनों ही शब्द वस्तु के आकार व् स्वरूप के अभिप्राय को व्यक्त करते है। हाफमैन के अनुसार — सूचना वक्तव्यो, तथ्यो अथवा आकृतियो का संकलन होती है। एन बैल्किन के अनुसार — सूचना उसे कहते है जिसमे आकार को परिवर्तित करने की क्षमता होती है। जे बीकर के अनुसार - किसी विषय से संबंधित तथ्यो कोसूचना कहते है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सूचना का मतलब होता है किसी भी विषय-वस्तुस के बारे में जानकारियों का प्रेषण व ग्रहण करना जो दैशीय व कालिक सन्दर्भो में सत्य या असत्य हो सकती है।

**अपनी प्रगति जाँच लीजिये:**

**1)** सूचना के क्या लक्षण है. स्पष्ट कीजिये.

**2)** ज्ञान का स्वरुप समझाइये.

## 1.6 तर्क एवं विश्वास

दर्शन में तर्क कथनों की श्रृंखला है जिसके द्वारा किसी प्रतिज्ञप्ति (कथन), युक्ति या प्रत्यरय को सत्य व वैध मानने के लिए कारण दिये जाते है। पहले तर्क के मुख्य बिन्दु, दिये जाते है फिर उन्हींह बिन्दुओं के आधार पर निष्कर्ष निकाला जाता है। मनुष्य के अन्द्र असाधारण क्षमता है जिसके द्वारा ज्ञान सम्भव है, वह है "अमूर्तिकरण के द्वारा अवधारणाओं का निर्माण करना। हम इन्द्रियों द्वारा सिर्फ कुछ संवेदनाएं प्राप्त करते हैं, इन्ही संवेदनाओं को जोड़ कर हम किसी भी विषय या वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते है। इस तरह तर्क बुद्धि ज्ञान प्राप्त करने का आधार है व तर्क देना ज्ञान को स्थापित या सिद्ध करने के लिए मुख्यत आधार बनाना है। तर्क को स्थापित करने के लिए सर्वप्रथम प्रतिज्ञप्तियों अथवा तर्कवाक्यों के आधार पर युक्तियों का निर्माण करते है तत्पश्चात युक्ति की वैधता या अवैधता की जाँच करते है जैसे -

**1)आधार वाक्य -** वह वाक्या जो सबसे पहले कहा जाता है जो एक या उससे अधिक भी हो सकता है।

**2) निष्कवर्ष वाक्यण -** आधार वाक्य अथवा असत्य ता वाक्यों पर जब निष्क्षत: अन्य वाक्य अनुमित किया जाता है, उसे हम निष्कर्ष वाक्य कहते है।

आधार वाक्य की सत्यता अथवा असत्यता से ही निष्कर्ष वाक्य की सत्यता का ज्ञान होता है और परिणामस्वरूप युक्ति की वैधता या अवैधता का ज्ञान होता है।

उदाहरण के लिए-

आधार वाक्य - सभी मनुष्य पशु है।

निष्कर्ष वाक्य - कुछ पशु मनुष्य है।

यहाँ कुछ पशु मनुष्य है की सत्य-ता का ज्ञान सभी मनुष्य पशु है, से हुआ है।

तर्क से अनुमान दो तरह से लगाया जा सकता है।

1) निगमनात्मक

2) आगमनात्मक

निगमनात्मगक तर्क में जब आधार वाक्यस की सत्य ता स्थापित है तब निष्कर्ष को भी स्वत: सिद्ध मान लिया जाता है। इस तरह यदि आधार वाक्य सत्य हुआ तब निष्कर्ष वाक्य अनिवार्यत: सत्य होगा और युक्ति वैध होगी।

उदाहरण –

सभी मनुष्य मरणशील है। (प्रथम आधार वाक्य-सत्य)

राम एक मनुष्य है। (द्वितीय आधार वाक्य-सत्य)

अतः राम मरणशील है। ((निष्कर्ष वाक्य-सत्य)

पुन: निगमनात्मक तर्क प्रणाली में हम देखते है कि सामान्य अभिकथनों के आधार पर विशेष निष्कर्ष प्रतिपादित होता है।

**आगमनात्मक तर्क –** आगमनात्मक तर्क का यह लक्षण होता है कि इसका निष्कर्ष आधार वाक्यों में आपादित नहीं होता है। उसके आधार वाक्य– निष्कर्ष की सत्यता के लिए संभावित आधार प्रस्तुकत करते हैं निश्चित प्रमाण नहीं। इसलिए आधार वाक्यों के सत्य होने पर निष्कर्ष के सत्य होने की संभावना होती है पर निश्चितता नहीं। चूँकि संभावना हमेशा मात्रात्मक होती है अत: कुछ आगमनात्मीक तर्क की सिद्धता ज्या दा रहती है, कुछ की कम रहती है।

उदाहरण –

राम चेचक के रोगियों के संपर्क मे रहा है।

अतःराम को चेचक की बीमारी हो सकती है।

इस तरह से हम इन्द्रियानुभव द्वारा प्राप्त संवेगों को तर्क बुद्धि या तर्कानुमान द्वारा ज्ञान में परिवर्तित करते है।

पुन: आगमनात्मक पद्धति की विशेषता है कि इसमें हम विशेष से सामान्य निष्कर्ष निकालते है जैसे –

राम मरणशील है<br>
श्याम मरणशील है<br>
मोहन मरणशील है } अत: सभी मनुष्य मरणशील है।

**विश्वास**

दर्शन में विश्वानस मूलत: उस प्रवृत्ति को कहते है, जो हमें किसी प्रत्यय के सत्यय होने के लिए स्वीकारोक्ति देती है। यदि किसी वक्तव्य पर विश्वास है तो जरूरी नहीं है कि उस वक्तव्य या प्रत्यय पर गहन चिंतन जरूरी हो। सन्त आगस्तीन ने कहा था कि विश्वास खोजता है और बुद्धि प्राप्त करता है। अत: विश्वास भी ज्ञान का महत्वपूर्ण स्रोत है। विश्वा स का भी स्रोत प्रारम्भिक अवस्था में अनुभव है जो हम अपनी इन्द्रियों द्वारा करते हैं। क्लिफर्ड कहते है कि ऐसा सोचना गलत है कि हमे अधूरे साक्ष्य के आधार पर ही विश्वास खड़ा कर लेते हैं। विश्वा स को समझने के लिए पहले हम तर्कसंगत विश्वास के विषय मे चिंतन कर लेते हैं। तर्कसंगत विश्वास के लिए भरपूर तथ्यो, साक्ष्य अथवा कारण होने चाहिए।

विश्वास के लिए साक्ष्य ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अनुभूतित हो सकते हैं। जो हम देखते, सुनते, महसूस करते हैं उन संवेदनाओं से जनित तर्क को या ज्ञान को साक्ष्य की जरूरत नही होती है। अन्य त्र स्रोत चाहे वह अन्तं:प्रज्ञा या हमारी आन्तरिक स्थिति द्वारा जो विश्वास उत्पन्न होता है उसकी प्रक्रिया को जॉन हिक्स अपनी पुस्तक 'धर्म दर्शन' मे क्रमबद्ध करते हुए वर्णन करते है कि –

**साक्ष्य ⟶ अनुमान ⟶ विश्वास**

पहले साक्ष्य प्रस्तुत होता है तत्पश्चात उस पर अनुमान लगाया जाता है तथा उस अनुमान के आधार पर विश्वास निर्मित होता है। कई स्वत: सिद्ध प्रस्ताव भी होते है जिन पर विश्वास के लिए साक्ष्य की जरूरत नहीं होती है। जैसे- 2+2=4, दुनियां है, आदि। व्यक्ति के स्मृति पर आधारित विश्वास जैसे- "आज मैंने दोपहर का भोजन किया है।" ऐसे विश्वास जो असंशोधनीय है जैसे- मै जिंदा हूँ इत्यादि। इस तरह हमने विश्वास के जितने प्रत्यैय समझे उन सभी को मुख्यपत: दो भागों में बाँट सकते है।

1) स्वत:सिद्ध प्रस्ताव पर आधारित
2) असंशोधनीय तथ्यों पर आधारित

स्वत:सिद्ध प्रस्ताव पर आधारित विश्वास जो कि सबके लिए एक व बराबर रहते है। लोगों के विभिन्न व्यक्तिगत अनुभव इनमें से किसी विश्वास पर प्रभाव नहीं डालते हैं। इन विश्वासों की सिद्धता की स्थिति हमेशा एक रहती है। व्यक्तिगत विभिन्नता और उस विभिन्नता से उत्पन्न अनुभव व अनुभूति से विश्वास की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता है।

असंशोधनीय प्रस्तावों पर आधारित विश्वास की व्युत्पनत्ति व्यक्तिगत या सामुदायिक अनुभव व अनुभूतियों पर आधारित है। चूँकि यह विश्वास अनुभवाधारित है, वे हर व्यक्ति के लिए अनोखी व अद्वितीय है। इसलिए ये विश्वास हर व्यक्तित्व के अनुभव की सीमा के अन्तर्गत ही अस्तित्व रखता है।

अन्त में निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते है कि ज्ञान के स्रोत में विश्वास का स्थान महत्वपूर्ण है परन्तु इस विश्वास को आधार मान कर ज्ञान को सर्वधा सत्य सिद्ध नही कर सकते हैं।

**अपनी प्रगति जाँच लीजिये :**

**1)** तर्क अनुमान कितने प्रकार के हो सकतें हैं. विस्तार कीजिये।

**2)** विश्वास को हम किन आधारों पे बाँट सकतें है ?

## 1.7 विद्यार्थी केंद्रित शिक्षा

शिक्षा में नये विकल्पों की सामाजिक स्वीकृति तथा नई सदी की नई सोच से शिक्षा जगत में शिक्षार्थी की सत्ता को एक पूर्ण पहचान मिली। शिक्षा के उद्देश्य, लक्ष्य, आधार, पाठ्यक्रम, तकनीक सबकी धूरी विधार्थी का विकास, बन गई । पहले शिक्षा का केन्द्र जहां शिक्षक था व शिक्षण प्रक्रिया के लक्ष्य प्राप्ति का दायित्व शिक्षक पर था वही अब शिक्षण में नवाचार व नवीन विधियां आने पर विधार्थी उस प्रक्रिया का साधक बन गया और शिक्षण प्रक्रिया उस साधक के लक्ष्य प्राप्ति का साधन बन गई।

रूसों ने जब प्रथम बार अपने विचार अपनी पुस्तक 'एमिल' द्वारा सबके समक्ष प्रस्तुत किये तत्कालीन समाज के लिए ये एक नयी सोच थी कि, ऐसा भी सोचा जा सकता है। रूसों का मानना था कि शिक्षा छात्र के चरित्र के विकास के लिए होनी चाहिए ताकि वह स्वयं पर विजय प्राप्त कर अपने अच्छे मूलस्वरूप को बरकरार रखे उन्होंने छात्र को प्रकृति की ओर उन्मुख रहने की मूल प्रवृत्ति को प्रमुख मान, यह कहा कि छात्र जब यह निर्णय लेगा कि उसे क्या पढ़ना या सीखना है तब शिक्षण प्रक्रिया संपूर्ण होगी। रूसों के इन विचारों से बल मिला, ऐसी शिक्षण प्रणाली को, जिसका ध्रुव छात्र था।

ऐसे ही छात्र केन्द्रित शिक्षा की प्रणेता थी मारिया मान्टेसरी । व्यावसाय से चिकित्सक मान्टेसरी ने अपने शैक्षिक विचारों को फलीभूत किया 'कासा डी बाम्बीनी' नामक भवन में, जिसे उन्होंने कम आय वाले माता-पिता की संतानों की देख रेख व शिक्षा के लिए खोला था, उन्होंने छात्रों को उन सामग्री से पढ़ाना या सिखाना शुरू किया जिन्हें उन्होंने स्वयं निर्मित किया। उन्होंने जब अपनी संस्था की शुरूआत की तब हर ऐसी बात का ध्यान रखा जिसमें छात्र को सुविधापूर्ण वातावरण मिले रूचिकर गतिविधियों, खेलना गाने व संगीत, जिमनास्टिक, दैनिक जीवन के कार्य कलाप को सम्पादित करने इत्यादि की पूर्णरूपण व्यवस्था हो। उन्होंने यह सब पाठ्यक्रम में स्थान देकर यह सिद्ध किया कि जब छात्र अपने कार्यकलापों में स्वतंत्र हो जाते हैं, तब वे स्वप्रेरित होते हैं, कुछ उपलब्धि पाने के लिए। मान्टेसरी का मानना था कि यदि छात्रों से हम एक स्वतंत्र व्यक्ति की तरह व्यवहार करेंगे, तब अधिगम के लक्ष्यों की प्राप्ति ज्यादा सुलभ हो जाएगी। छात्रों को क्रियाकलाप, खेल-कूद व गतिविधियों में चयन करने की स्वतंत्रता देकर

उनमें स्वायत्तता के विकास को सम्पादित किया । उनका मानना था कि शिक्षा का उद्देश्य छात्र को एक योग्य स्वतंत्र व्यक्तित्व बनाना है।

ऐसे ही छात्र केन्द्रित विचार स्विटजरलैण्ड के शिक्षणशास्त्री पेस्तालोज़ी के थे। उनका ध्येय वाक्य था ''मस्तिष्क, हृदय व हाथों द्वारा अधिगम''। उन्होंने छात्र के चरित्र, व्यक्तित्व व तर्क शक्ति निर्माण में उसके जीवन के हर पहलू को सहायक व भागीदार माना। उनके शिक्षण के विचार छात्र केन्द्रित थे और व्यक्तित्व-विभिन्नता, इन्द्रिय ज्ञान, व स्वकार्यशीलता पर आधारित थे। उन्होंने शारीरिक क्रियाओं, खेलकूद व कार्यकलापों सहित बहुत सी बाह्य गतिविधियों को विकास पर बल दिया। वे कहते थे कि उनका असली कार्य उनके द्वारा संचालित विद्यालय नहीं अपितु उनकी वह सोच है जिसमें छात्र को सम्मान के साथ व्यवहार हो उसके व्यक्तित्व विकास की संपूर्ण प्रक्रिया हो व उसके लिए सहानुभूति हो।

पेस्तालोज़ी के ही छात्र जर्मनी के शिक्षाशास्त्री फ्रोबेल ने अपने गुरू के छात्र केन्द्रित शिक्षण प्रक्रिया के दर्शन को आगे बढ़ाते हुए आधुनिक शिक्षा की नींव डाली और एक नये शब्द व प्रत्यय का नामकरण किया जिसे 'किन्डरगार्टन' कहते हैं। जो एक ऐसी संस्था थी जहां बच्चा खेल व कार्य कलापों के लिए जाता है। ज्यामिति ब्लाक व पैटर्न पर आधारित कई खेल बनाए जिसे 'फ्रोबल्स गिफट' कहा जाता है। इस किन्डरगार्टन की संज्ञा के साथ उन्होंने अपनी संस्था की शुरूआत की जहां उन्होंने क्रिया कलापों द्वारा अधिगम के लक्ष्यों को प्राप्त किया। गायन, नृत्य, बागवानी व फ्रोबल्स गिफट द्वारा कार्यकलाप कर इन क्रियाओं व खेल पद्धति को शिक्षा में एक महत्वपूर्ण स्थान दिलाया ।

छात्र केन्द्रित शिक्षण प्रक्रिया छात्रों की सत्ता को केन्द्रिय भूमिका प्रदान की उन्हें स्थान व समय दिया साथ ही अधिगम प्रक्रिया को अपनी तरह रूपांतरित करने के लिए रुचि के अनुसार क्या सीखना है, कैसे सीखना है, कब सीखना है जैसे आयामों को प्रभावित करना शुरू किया । उक्तर प्रक्रिया ने कक्षा को शिक्षक केन्द्रित, जहां पर शिक्षक ज्ञान का स्त्रोत हुआ करता था व विद्यार्थी का निर्माण करता था, के स्थान पर विधार्थी केन्द्रित कर दिया जहां अधिगम की प्रक्रिया में हिस्सेदारी व जवाबदारी विधार्थी की हो गई । इन्हीं सिद्धांतों पर नई सदी में छात्र को ध्यान में रखते हुए अधिगम व कौशल विकास के सिद्धांतों की नई प्रक्रिया का उदय हुआ। स्किनर, रोजर्स, प्याजे ने अपने सिद्धांत प्रतिपादित किये और अपनी अधिगम प्रक्रिया व मार्ग का निर्माण छात्र को केन्द्रित करके संचालित होने लगे।

**अपनी प्रगति जाँच लें :**

1) छात्र केंद्रित शिक्षा का विकास किस प्रकार हुआ ?

## 1.8 क्रियाकलाप

शिक्षा का व्यापक उद्देश्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास करना माना जाता है। अर्थात शिक्षा के द्वारा बालक के शरीर, मन तथा आत्मिक सभी पक्षों का अनुकूलतम विकास करने का प्रयास किया जाता है। यह कहना तनिक भी अनुचित नहीं होगा कि इन तीन पक्षों में से यदि एक को भी अलग कर दिया जाय तब व्यक्ति अपने जीवन में पूर्णता को कदापि प्राप्त नहीं कर सकता है। यही कारण है कि शिक्षा प्रणाली में क्रियाकलापों का समायोजन होना अत्यंत महत्वपूर्ण है।

वस्तुत: स्वस्थ, सुडौल व सक्रिय शरीर के अभाव में व्यक्ति के द्वारा अपनी शारीरिक क्रिया कलापों को सम्पन्न करना सम्भव नहीं हो पाता है।

इतिहास के अवलोकन से ज्ञात होता है कि सभी सभ्य समाजों ने अपने नागरिकों के लिए किसी ना किसी प्रकार से शिक्षण प्रक्रिया में क्रिया कलापों को समाहित करने का प्रयास किया है। प्राचीन व मध्यकाल में दी जाने वाली शिक्षा में आखेट, युद्ध कला, खेल-कूद इत्याषदि भी सम्मिलित होते थे। यूनान में तो सर्व प्रथीम शारीरिक शिक्षा को समुचित स्थान देकर पाठ्यक्रम का महत्वपूर्ण हिस्सा बनाया गया।

**क्रिया कलाप की आवश्यकता :-** मानव शरीर की प्रमुख पाँच ज्ञानेन्द्रिया होती हैं। कान, नाक, नेत्र जिव्हा व त्वचा। ज्ञानेन्द्रियों को संवेदना ग्राहक या ग्राही भी कहा जाता है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त वातावरण की जानकारी का क्रम निरन्तर जीवनपर्यन्त चलता रहता है व व्यक्ति के सर्वांगीण विकास की सम्भावनाऐं उसकी ज्ञानेन्द्रियों के यथार्थ ढंग से कार्य करने पर निर्भर करती है। यही कारण है कि ज्ञानेन्द्रियों की संवेदनाओं के विकास के लिए शैक्षिक पाठ्यक्रम में क्रिया कलापों पर अधिकतम ज़ोर दिया जाता है।

आधुनिक मनोविज्ञान बालक के विकास में वंशानुक्रम एवं वातावरण दोनों का योगद्वान मानते हैं। यदि उचित वातावरण विद्यार्थी को मिले तो वह आवश्यक वृद्धि व विकास को पा सकता है। अत: विद्यार्थी के शारीरिक व मानसिक विकास के लिए क्रिया कलापों का शिक्षण प्रक्रिया में समायोजन आवश्यक है।

क्रिया-कलाप के आयाम :-

**1) भाषा-प्रवीणता –** भाषा सम्प्रेषण का सशक्त माध्यम है। भाषा द्वारा परस्पर सूचनाओं, विचार, स्पष्टीकरण व निर्देश आदि का आदान प्रदान किया जाता है। भाषा एक सतत चलने वाली प्रक्रिया है जिसका स्वरूप मानव के परिपक्वता से निर्धारित होता है। भाषा प्रवीणता वह वाचिक योग्य ता है जिससे बालक अपनी परिपक्वता के अनुपात में अपने भावों तथा विचारों को दूसरों तक पहुँचाने अथवा दूसरों के विचारों तथा भावों को गहण करने में सहायक होता है।

भाषा प्रवीणता के मुख्य चार घटक है – श्रवण, वाचन, पठन व लेखन।

**2) शारीरिक एवं स्वास्थ विकास –** विकास शरीर की अनेक संरचनाओं तथा प्रकार्यो को संगठित करने की एक जटिल प्रक्रिया है। यह वह प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न आन्तरिक शरीर रचना सम्बन्धी परिवर्तन तथा इससे उत्पन्न मनोवैज्ञानिक प्रक्रियायें एकीकृत होकर व्यक्ति को सरलता, सहजता व मित्यव्ययता से कार्य करने योग्य बनाती है। अत: **शारीरिक संरचना एवं स्वास्थं विकास के घटक है**

अ)वृद्धि व विकास- शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, संवेगात्मक तथा नैतिक वृद्धि व विकास

ब) शारीरिक शिक्षा व खेल कूद – दौड़ना, उछलना, तैरना, वर्जिश करना, पर्वतारोहण, क्रिकेट, फूटबॉल, बास्केटबाल **इत्यादि।**

**स) स्वास्थ शिक्षा –** शारीरिक स्वच्छता, निद्रा व विश्राम आनन्ददायक वातावरण, मादक पदार्थ से दूरी, प्राथमिक उपचार, रोग संक्रमण जानकारी इत्यादि।

द) आहार व पोषण – खाद्य पदार्थ, पोषक तत्वा, भोजन नियमन व मात्रा इत्यादि।

इ) शरीर संवर्धन- योग, ध्यान इत्यादि।

**3)सूचना व सप्रेषण क्रिया –** मानव ज्ञान का भण्डार सदा गतिशील प्रकृति का होता है व निरन्तर नवीन ज्ञान का निर्माण होता रहता है। आधुनिक युग संचार माध्यमों से नई तकनीकों के प्रयोग व उपयोग का है। संप्रेषण के माध्यमों में भी निरन्तर बढ़ोत्तरी जारी है। संप्रेषण क्रिया के मुख्य घटक है – लिखित/मुद्रित सामग्री, मौखिक प्रस्तुति, रेडियो प्रसारण, दूरदर्शन प्रसारण, कम्प्यूटर, मल्टी मीडिया, विश्वि व्यापी संजाल इत्यादि।

**4)पाठ्य सहगामी क्रियायें –** एक समय था जब पठन-पठन से अन्येत्तर गतिविधियाँ पाठ्येत्तर मानी जाती थी। समय में परिवर्तन आया व शिक्षाविदों ने इसे पाठ्यक्रम का महत्वपूर्ण हिस्सा मानकर पाठ्य सहगामी क्रियाओं की संज्ञा दी। विद्यालयी पाठ्य सहगामी क्रियाओं को निम्नलिखित प्रकारो में बाँटा जा सकता है –

**i. शैक्षिक क्रियायें –** वाद-विवाद, साहित्य-क्लाब, विज्ञान-क्लब, प्रश्न -मंच तथा तात्कालिक भाषण आदि।

**ii. शारीरिक क्रियायें –** खेल-कूद, व्यायाम, योग, तैराकी, परेड ड्रिल, साईकल चलाना एन.सी.सी इत्यादि।

**iii.साहित्यिक क्रियायें –** साहित्य सभा, नाटक, कविता पाठ, समाचार पत्र, नोटिस बोर्ड, वाचनालय इत्यादि।

**iv. नागरिक क्रियायें –** श्रमदान, बाल सभा, एन.एस.एस. मॉक-सांसद, मॉक-अदालत छात्र परिषद इत्यादि।

**v. ललित क्रियायें –** संगीत, गायन, वाद्य, नृत्यह, चित्रकला, मूर्तिकला इत्यादि।

vi**. सामाजिक क्रियायें –** भ्रमण, पिकनिक, ग्राम-पर्यवेक्षण, समाज सेवा, स्काउट एण्डद गाईड, प्रौढ़ शिक्षा, साक्षरता मिशन इत्यादि।

**vii. शिल्प क्रियायें –** सिलाई, कढ़ाई, जिल्दसाजी इत्यादि।

**viii. अन्य क्रियायें –** फोटोग्राफी, टिकीट व सिक्के संग्रह, इत्यादि।

**अपनी प्रगति की जाँच कीजिये:**

1) शैक्षणिक वातावरण में क्रियाकलाप की क्या आवश्यकता है, स्पष्ट कीजिये।

2) क्रियाकलाप के आयाम समझाइये।

## 1.9 खोज एवं संवाद की संकल्पना

गांधी ने अपने सम्पूर्ण जीवन को 'सत्य के साथ प्रयोगों की संज्ञा दी। आधुनिक विश्व के इतिहास में संभवतः वे एकमात्र ऐसे विचारक है, जिन्होंने व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक जीवन के दोनों क्षेत्रों में समान रूप से 'सत्य' को कर्म की कसौटी माना। उनके लिए सत्य न तो पूर्ण रूप से अमूर्त है न ही मात्र भौतिक एवं तत्कालीन वस्तुस्थिति द्वारा परिसीमित। उनकी दृष्टि में सत्य एक स्तर पर शाश्वत जीवन मूल्यों का पर्याय है तथा दूसरे स्तर पर सामाजिक, सामयिक, वैयक्तिक और राजनीतिक सरकारों को समझने का अर्थपूर्ण माध्यम। सत्याग्रह 'आत्मानुभूति और संयोग' की कला है। सत्याग्रही कभी प्रतिपक्षी को कष्ट नहीं देता, वह स्वयं कष्ट सहन करता है। सत्याग्रह का बल दुःख उठाने में है। दूसरों को कष्ट पहुँचाने से सत्य का उल्लंघन होता है। 'संदेह, शंका और अविश्वास' उससे कोसों दूर है। धांधली, अधीरता और वाचालता उसके समीप नहीं फटकते। गांधी अक्सर डैनियल, सुकरात, प्रहलाद और मीरा का उदाहरण दिया करते थे, जिन्होंने अपने विरोधियों के प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं रखी । सत्याग्रह किसी एक

पक्ष की विजय और दूसरे पक्ष की पराजय नहीं चाहता । उसका हेतु केवल एक ही है कि सत्य की विजय हो और असत्य विलीन हो जाए । समन्वीय ही सत्याग्रह का आशय है, ताकि दोनों पक्षों का एक सा कल्याण हो। परंतु गांधी अपनी सहूलियत के लिए सत्य को नापने का गज छोटा भी नहीं करना चाहते । इसमें किसी प्रकार की सौदेबाजी नहीं होती। सत्याग्रह में संख्या का महत्व नहीं, बल्कि गुणों का महत्व है । वह कहते थे कि सत्याग्रह की क्षमता सत्याग्रहियों की संख्या पर नहीं बल्कि उनके गुणों पर निर्भर करती है। संख्या, तो बुजदिल के लिए प्रसन्नता का विषय हो सकता है, शूरवीर, तो अकेला ही लड़ने में शूरवीरता पाता है।

सत्य को स्पष्ट करते हुए गांधी ने उसे चेतना की ध्वनि कहा। सत्य की दृष्टि से, अन्तर्मन की स्वीकृति शाश्वत मूल्य के अनुसरण हेतु प्रेरित करती है । गांधी ने अनेक अवसरों पर ईश्वर को सर्वोच्च विधि एवं सर्वोच्च शक्ति के रूप में परिभाषित किया। वस्तुतः ये नामकरण समयानुसार न्याय के ही प्रमाण है। गांधी के अनुसार व्यवहार में सापेक्ष सत्यों की उपलब्धि द्वारा शाश्वत पूर्ण सत्य की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है। सापेक्ष सत्य अर्थात सापेक्ष न्याय की प्राप्ति पूर्ण न्याय की ओर इंगित करती है।

गांधी ने जब सामाजिक कार्यकर्ता के साथ ही समाचार पत्रों का सम्पादन शुरू किया तो उन्होंने इसके लिए आदर्श निर्धारित किए थे। वे चाहते थे कि विश्वर की सभी पत्र-पत्रिकाएं इन आदर्शों को निभाकर निकले। उन्होंने कहा जब पत्र मालिकों को लगे कि - उन आदर्शों को निभाना कठिन हो रहा है तो उन्हें पत्र-पत्रिकाएं बंद कर देना चाहिए। वे जिन बातों को पत्र-पत्रिकाओं के लिए अनिवार्य मानते थे, उनमे सबसे पहली बात तो यह है कि कोई भी पत्र-पत्रिका के सामने कोई उदात ध्येय होना चाहिए। केवल मनोरंजन या पैसा कमाने की दृष्टि से पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन अवांछनीय है। वे वाणी की स्वतंत्रता के पूरे पक्षपाती थे । साथ ही, आत्म संयम पर उनका बहुत अधिक जोर था। कोई ऐसी बात जिससे किसी भी प्रकार की शील, हानि होती हो, उनकी पत्रकारिता की परिधि में नहीं आती थी । पत्र-पत्रिकाएं देश के शासन से भी अधिक शक्तिशाली है, इसलिए उन्हें अपनी शक्ति का उपयोग बहुत ही सावधानी से करना चाहिए। गांधी ने पत्रकारिता के कुछ मानदंड रखे । उन्होंने लिखा-समाचार पत्र का एक उद्देश्य तो यह है कि वह जनता की भावनाओं को समझें और उसे अभिव्यक्त करे। दूसरा यह कि वह जनता में कुछ वांछनीय विचारों को जाग्रत करे और तीसरा यह कि जो आम दोष हो, उसका निर्भीकता से भंडाफोड़ करे।

प्लेटों एक आदर्शवादी विचारक था। उसने मानव जीवन को शिक्षा में बहुत अधिक महत्व दिया है। उसके अनुसार ''शिक्षा प्रथम तथा श्रेष्ठतम वस्तु है। जिसे सर्वोत्तम मनुष्य ही प्राप्त कर सकते हैं।'' प्लेटो ने समाज की उन्नति के लिए योग्य नागरिकों की परम आवश्यकता बताई है एवं उनके निर्माण के लिए शिक्षा को एक सर्वोत्तम साधन स्वीकार किया है। प्लेटो शिक्षा के द्वारा बालक का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, संवेगात्मक, चारित्रिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास करना चाहते हैं।

प्लेटो के समय राज्य प्रशासन में कुलीन तंत्र तथा व्यक्तिवाद का बोलबाला था । परन्तु अपने गुरू सुकरात की तरह से वह भी इस प्रकार की सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्था का विरोधी था। वह समाज में प्रजातांत्रिक सामुदायिक और सहयोगी भावना का विकास करने का पक्षधर था। इस कार्य के लिए प्लेटो के द्वारा शिक्षा को सर्वोत्तम साधन के रूप में स्वीकार किया। प्लेटो ने नागरिकों को उनके ज्ञान के आधार पर तीन वर्गों-तृष्णा, संकल्प और विवेक में विभाजित करते हुए इन तीन वर्गो से एक दूसरे के साथ मिलकर राज्य में एकता स्थापित करने की अपेक्षा की थी। उसके अनुसार एकता बनाने के कार्य को शिक्षा के मध्यम से किया जाना चाहिए।

1. प्लेटो के अनुसार बालक में तर्कशक्ति तथा विवेक का विकास किया जाना चाहिए। तर्कशक्ति तथा विवेक प्रत्येक बालक में सुप्तावस्था में रहता है। जिसे शिक्षा द्वारा जाग्रत करके बढाया जाना चाहिए।

2. संतुलित व्यक्तित्व के निर्माण का उद्देश्य - प्लेटो ने शिक्षा के द्वारा व्यक्ति में संतुलित व्यक्तित्व के निर्माण करने की बात कही है। उसके अनुसार ''शरीर तथा मन, आदतजन्य तथा विवेकजन्य जीवन, वैयक्तिक एवं सामूहिक हितों में 'एकीकृत सम्पूर्ण' बनाने के लिए व्यक्तित्व का संतुलित तथा सामंजस्यपूर्ण होना परमावश्यक है।''

3.स्व-शासित व्यक्ति के निर्माण का उद्देश्य - प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने कहा है कि व्यक्ति ही अपने को सर्वोत्तम ढंग से व्यवस्थित कर सकते हैं इसलिए उसके अनुसार शिक्षा का एक उद्देश्य स्वशासित व्यक्तियों का निर्माण करना है। प्लेटो के अनुसार ''यदि हमारे नागरिक उचित ढंग से शिक्षित हैं तथा समझदार व्यक्तियों के समान विकसित होते हैं तो वे सरलता से अपनी राह बना सकते हैं।''

4.सामंजस्यपूर्ण जीवन व्यतीत की तैयारी का उद्देश्य -प्लेटो के अनुसार शिक्षा का एक उद्देश्य सामंजस्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार करना भी है। इसके लिए, विद्यालय में बालकों को प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। प्लेटो के शब्दों में कहा जा सकता है कि, ''सच्ची शिक्षा जो भी हो, मनुष्यों का एक दूसरे के साथ परस्पर संबंधों के साथ तथा मानवीय बनाने की प्रवृत्ति रखेगी।''

5.शाश्वत मूल्यों को अपनाने का उद्देश्य -प्लेटो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य शाश्वत मूल्यों को अपनाने के लिए व्यक्तियों को तैयार करना होना चाहिए। प्लेटो शाश्वत मूल्यों को परमात्मा का गुण मानता था तथा उसके अनुसार परमात्मा से संबंध बनाने के लिए इन मूल्यों का साक्षात्कार बालक को अवश्य कराया जाना चाहिए।

6.प्लेटो ने बालकों की योग्यताओं, रूचियों, प्रवृत्तियों के अनुरूप उन्हें शिक्षा देने की बात कही है। उसके अनुसार शिक्षण विधि को मनोरंजक होना चाहिए। छोटी कक्षाओं के लिए प्लेटो ने खेल विधि का प्रयोग करने पर बल दिया है। प्लेटो ने बालकों के समक्ष पाठ्यसामग्री के रोचक प्रस्तुतीकरण पर भी जोर दिया है। प्लेटो ने अपने गुरू सुकरात के द्वारा प्रस्तुत तर्क विधि को अपनाया है। बायड ने प्लेटो के तर्क का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है, ''तर्क क्या है। शाब्दिक रूप से यह विचारवान व्यक्तियों का वाद-विवाद या तर्क युक्त स्पष्टीकरण है।''

**अपनी प्रगति जाँच लीजिये:**

1) गांधी के विचारों में संवाद का स्थान समझाइये।
2) प्लेटो ने किस प्रकार खोज व संवाद विधि को प्रकट किया, स्पष्ट कीजिये।
3) डीवी ने अपने विचारों में किस प्रकार खोज व संवाद को प्रश्रय दिया।

# इकाई 2

## पाठ्यक्रम-शिक्षा समाज और आधुनिक मूल्य

**इकाई की संरचना**


**2.1 समाज**

**2.2 संस्कृति और आधुनिकता**

**2.3 औद्योगीकरण**

**2.4 लोकतंत्र एवं वैयक्तिक स्वायत्तता**

**2.5 अम्बेडकर के संदर्भ में आधुनिक मूल्य**

**2.6 वैयक्तिक अवसर**

**2.7 सामाजिक न्याय एवं नैतिकता और शिक्षा**

**2.8 राष्ट्रीयता**

**2.9 वेश्विकता एवं धर्म निरपेक्षता का शिक्षा से अंतर्सम्बन्ध**

**2.10 प्रगति की जाँच के लिए अपेक्षित प्रश्न**

**2.11 सन्दर्भ पुस्तकें**


### 2.1 समाज

सामाजिक संबंधों के ताने बाने को समाज कहतें हैं समाज मानवीय अंत:क्रियाओं की संरचना है। मानवीय क्रियाएँ चेतन और अचेतन दोनों परिस्थितियों में निरंतर क्रियान्वित रहतीं हैं । व्यक्ति का व्यवहार कुछ निश्चित लक्ष्यों की पूर्ति के प्रयास की अभिव्यक्ति है । उसकी कुछ नैसर्गिक तथा कुछ अर्जित आवश्यकताएँ होती हैं - काम, क्षुधा, सुरक्षा इत्यादि । इनकी पूर्ति मानव अस्तित्व के लिए आवश्यक है, वह स्वयं इनकी पूर्ति करने में सक्षम नहीं होता इसलिए इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य ने एक व्यवस्था को विकसित किया है, जिसमें सभी समाहित हो कर अपने उद्देश्य पूर्ति में एक साथ सहभागी होतें हैं । इस व्यवस्था को ही हम समाज के नाम से सम्बोधित करते हैं। यह व्यक्तियों का ऐसा संकलन है जिसमें वह निश्चित संबंध और विशिष्ट व्यवहार द्वारा एक दूजे से बँधे होते हैं । व्यक्तियों की वह संगठित व्यवस्था विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न मानदंडों को विकसित करती है, जिनके कुछ व्यवहार सामाजिक रूप से अनुमत और कुछ निषिद्ध होते हैं।

समाज को उन्नत करने और स्थापित रहने के लिए उसके सदस्यों की कुछ आवश्यक शर्त होती हैं-

1) उपलब्ध पर्यावरण के अनुरूप अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति

2) अपनी प्रजाति के संवर्धन हेतु संतति उत्पन्न करना,

3) अपनी गतिविधियों को एकीकृत करना.

चूँकि समाज व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों की एक व्यवस्था है, इसलिए इसका कोई मूर्त स्वरूप नहीं होता है व इसकी अवधारणा अनुभूतिमूलक है । समाज हमेशा अपने सदस्यों में ही अस्तित्व रखता है, अतः सामाजिक संबंधों का ताना-बाना समाज के अस्तित्व का अपरिहार्य अंग है । ज्ञान और प्रतीति के अभाव में सामाजिक संबंधों का विकास संभव नहीं है। पारस्परिक सहयोग एवं संबंध का आधार समान स्वार्थ होता है। समान स्वार्थ की सिद्धि समान आचरण द्वारा संभव होती है। इस प्रकार का सामूहिक आचरण समाज द्वारा निर्धारित और निर्देशित होता है। वर्तमान

सामाजिक मान्यताओं की समान लक्ष्यों से संगति के संबंध में सहमति अनिवार्य होती है। यह सहमति पारस्परिक विमर्श तथा सामाजिक प्रतीकों के आत्मीकरण पर आधारित होती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सदस्य को यह विश्वास रहता है कि वह जिन सामाजिक विधाओं को उचित मानता और उनका पालन करता है, उनका पालन दूसरे भी करते है। इस प्रकार की सहमति, विश्वास एवं तदनुरूप आचरण सामाजिक व्यवस्था को स्थिर रखते है। व्यक्तियों द्वारा सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु स्थापित विभिन्न संस्थाएँ इस प्रकार कार्य करती है, जिससे एक समवेत इकाई के रूप में समाज का संगठन अप्रभावित रहता है। असहमति की स्थिति अंतर्वैयक्तिक एवं अंत:संस्थात्मक संघर्षों को जन्म देती है जो समाज के विघटन के कारण बनते है। यह असहमति उस स्थिति में पैदा होती है जब व्यक्ति सामूहिकता के साथ आत्मीकरण में असफल रहता है। आत्मीकरण और नियमों को स्वीकार करने में विफलता कुलगति अधिकारों एवं सीमित सदस्यों के प्रभुत्व के प्रति मूलभूत अभिवृत्तियों से संबद्ध की जा सकती है । इसके अतिरिक्त ध्येय निश्चित हो जाने के पश्चात् अवसर इस विफलता का कारण बनता है।

हैरी ऍम. जॉनसन ने समाज के चार लक्षण बताएं हैं–

**1) निश्चित क्षेत्र:-** समाज हमेशा एक क्षेत्रीय समूह होता है, किसी एक समाज में हालाकि कई क्षेत्रीय समूह होतें हैं जैसे शहर, गाँव, पड़ोस, प्रान्त, संकुल इत्यादि।

**2) संतति:-** समाज में नए सदस्यों की भर्ती मूल रूप से उस सभ्यता के संतति संवर्धन हेतु प्रजनन प्रक्रिया द्वारा किया जाता है। वैसे हमेशा से समाज के नए सदस्य अप्रवास, दत्तक, ग्रहण इत्यादि द्वारा भी शामिल किये जातें हैं, पर प्रजनन हमेशा से नए सदस्यों को शामिल करनें के लिए प्रमुख प्रक्रिया रही हैं.

**3) संस्कृति:-** हर समाज की अपनी व्यापक संस्कृति होती है जो की आत्मनिर्भर होती है। एक समाज दूसरे समाज से सम्बन्ध रखता है, जैसे-व्यापार, भ्रमण इत्यादि परन्तु उस सम्बन्ध का स्वरुप संस्कृति पर निर्भर करता है.

**4) स्वतंत्रता:-** समाज का महत्त्वपूर्ण लक्षण यह भी है कि उसकी मान्यता किसी उपसमूह कि स्थिति में नहीं प्राप्त है और वह समूह अपनी स्वतंत्र पहचान रखता है।

वर्तमान में परिवार और उसके बाद दूसरी महत्वपूर्ण संस्था विद्यालय है । अधिकांश देशों में प्राथमिक स्तर तक नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की गयी है। चूँकि शिक्षा देश के विकास की प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग है । इसलिए इसे उच्च प्राथमिकता दी गयी है। विद्यालय बालक को देश-विदेश के इतिहास, भाषा, विज्ञान, गणित, कला तथा भूगोल की जानकारी प्रदान करते है। कालेज, विश्व विद्यालय और अन्य उच्च संस्था व्यक्ति को किन्हीं खास विषयों का विशिष्टि ज्ञान प्रदान करते हैं। व्यक्ति को इस योग्य बनाते है कि वे अपनी जीविका उपार्जित कर सकें और समाज का एक उपयोगी अंग बन सके। वर्तमान में शिक्षा संस्थाओं की बहुता है और इस संस्था में शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्र, छात्राओं की भीड़ है। बालक, बालिकाएं समान रुप से तकनीकी एवं गैर-तकनीकी हर क्षेत्र में शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं।

परिवार और शिक्षण संस्था ओं के बाद व्यक्ति के लिए उसका पड़ोस और आस-पास का इलाका सबसे अधिक महत्व रखता है। पड़ोसी अलग-अलग जातीय समुदाय से संबंधित हो सकते है। उनके व्यावसाय धार्मिक विश्वास और रहन-सहन का ढंग भी अलग-अलग हो सकता है, किन्तु पड़ोसी होने के कारण कुछ सम्मिलित जिम्मेदारियां होती है। जैसे पड़ोस में रहने वाले सभी लोगों का कल्याण इस बात में है कि गली-मुहल्ला साफ-सुथरा रहे, सभी लोग यह चाहेगें कि पड़ोस में शान्ति पूर्ण वातावरण रहे, सभी यह चाहेगें कि उनके बच्चे बुरी आदतों का शिकार न बनें और पड़ोस में आमोद-प्रमोद का स्वस्थ्य वातावरण बना रहे। अच्छे पड़ोसी के लिये यह आवश्यक है कि वह पास-पड़ोस को साफ-

सुथरा रखें, पड़ोसियों के दु:ख दर्द में शामिल हो, उनकी सुख-सुविधाओं का ध्यासन रखें, चोरों और अजनबी लोगों पर नजर रखें, बच्चों को कुसंग से बचायें आदि।

जैसे-जैसे पारिवारिक पड़ोस में वृद्धि होती जाती है समाजिक क्षेत्र का विस्ताकर होता चला जाता है। कई परिवारों से गाँव, कस्बे , शहर बनते हैं, तत्पश्चात देश और सम्पूर्ण विश्व। पड़ोस से तात्पर्य सिर्फ घर से घर ही नहीं, बल्कि गाँव का पड़ोसी गाँव, शहर का पड़ोसी शहर, देश का पड़ोसी देश इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व बनता है। भारतीय संस्कृति ने वसुधैव कुटुम की भावना से सम्पूर्ण विश्व को एक परिवार माना है और संपूर्ण विश्व को एक समाज मान कर सबके सुख और कल्याण की कामना के साथ समाज की संकल्पना की है।

**अपनी प्रगति जांचिए:**

1)समाज से क्या अभिप्राय है ?

2) विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के विषय में चर्चा कीजिये।

### 2.2.1 संस्कृति

संस्कृति वह जटिल सम्पूर्णता है जो समाहित करती है ज्ञान, विश्वास, कला, मूल्य, विधि, रिवाज और बाकी सभी अन्य क्षमताऐं जो मानव एक समाज के सदस्य के रूप में अर्जित करता है। - एडवर्ड बर्न टायलर।

संस्कृति मानव द्वारा अर्जित सभी उपलब्धि के प्रदर्शनों की सूची में विस्तृत रूप में सारगर्भित होती है। संस्कृति की समाजशास्त्रीय विवेचना हमेशा समाज के लोगों द्वारा सांझें रूप से उपलब्धित उत्पाद फिर चाहें वह भाषा हो या कलाकृतियां, रीत-रिवाज या खान पान के तरीके, सोचने-समझने का ढंग हो या नियम और क़ानून इत्यादि हो, जब समाज ये सब उपलब्धियां एकजुट हो के स्वीकारता है वह उस देश काल व समाज की संस्कृति बन जाती है

क्रोएबेर ने संस्कृति को दो भाग में विस्तृत किया है जिसे उन्हें ईड़ोस एवं इथोस की संज्ञा दी है। ईड़ोस संस्कृति का भौतिक हिस्सा होता है एवं इथोस संस्कृति का अभौतिक या फिर आत्मिक हिस्सा होता है। अतः हम कह सकतें हैं की मानव व्यवहार का वह पांडित्यपूर्ण भाग है जो सीखा जाता है व उपार्जित किया जाता है समाज के साथ सामुदायिक रूप से रह के, मानव नस्ल का अभूतपूर्व हिस्सा उसकी संस्कृति है। रोबर्ट मोर्रिसन मैकआइवर ने संस्कृति को मानव समाज की प्राथमिक उपलब्धि माना जो कि मूल्यात्मक आध्यात्मिक व बुद्धिपरक पक्ष है व सभ्यता को गौण उपलब्धि माना जो कि तकनीकी व भौतिक अवयव है।

इन भिन्नताओं के होते हुए भी संस्कृति और सभ्यता एक दूसरे से अंत:संबद्ध हैं और एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। सांस्कृतिक मूल्यों का स्पष्ट प्रभाव सभ्यता की प्रगति की दिशा और स्वरूप पर पड़ता है। इन मूल्यों के अनुरूप जो सभ्यता निर्मित होती है, वही समाज द्वारा ग्रहीत होती है। सभ्यता की नवीन उपलब्धियाँ भी व्यवहारों, हमारी मान्यताओं या दूसरे शब्दों में हमारी संस्कृति को प्रभावित करती रहती है। समन्वयन की प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है।

### 2.2.1.1 संस्कृति की सामान्य विशेषतायें :

- संस्कृति सीखी जाती है और प्राप्त की जाती है।
- संस्कृति लोगों के समूह द्वारा प्रसारित होती है।
- संस्कृति संचयी होती है और पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ता रहता है।
- संस्कृति परिवर्तनशील होती है और देश काल व परिस्थितिकी का असर उस पर भी आता है।
- संस्कृति गतिशील होती है और जैसे समय बीतता है संस्कृति निरंतर बदलती है।
- संस्कृति हमें उक्त समाज द्वारा स्वीकृत व मान्य व्यवहारों को हस्तांतरित करउस समाज का हिस्सा बनाती है।
- संस्कृति भिन्न होती है, जैसे व्यक्तित्व विभिन्नता होती है वैसे ही हर संस्कृति अपने आप में अनूठी व अन्य संस्कृतियों से भिन्न होती है।
- संस्कृति एक आदर्श तरीका प्रस्तुत करती है, जिससे उसी संस्कृति के अन्य लोगों से सामाजिक स्वीकृति प्राप्त की जा सके।

संस्कृति प्रकृति प्रदत्त नहीं होती, यह सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा अर्जित होती है। अत: संस्कृति उन संस्कारों से संबद्ध होती है, जो हमारी वंश परंपरा तथा सामाजिक विरासत के संरक्षण के साधन है। इनके माध्यम से सामाजिक व्यवहार की विशिष्टताओं का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में निगमन होता है। निगमन के इस निरंतरता में ही संस्कृति का अस्तित्व निहित होता है और इसकी संचयी प्रवृत्ति इसके विकास को गति प्रदान करती है, जिससे नवीन आदर्श जन्म लेते हैं। इन आदर्शों द्वारा बाह्य क्रियाओं और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों का समन्वयन होता है तथा सामाजिक संरचना और वैयक्तिक जीवनपद्धति का व्यवस्थापन होता रहता है।

अतः कहना सही होगा कि संस्कृति-

- मानव निर्मित
- मानव आश्रित
- मानव संचालित
- मानव संग्रहीत, व
- मानव नियंत्रित है.

नृशास्त्रीय अध्ययनों से यह भी आकलन किया गया है कि कई पशु जातियो में भी उनके मध्य किसी संस्कृति का अस्तित्व है यद्यपि उस संस्कृति का विकास न कि मात्रा में है।

### 2.2.1.2 संस्कृति में परिवर्तन

संस्कृति का रोचक पक्ष है उसका विकास व उसमें बदलाव, जैसे कि कोई सत्य या प्रत्यय स्थायी नहीं होता, संस्कृति भी उत्क्रान्त होती है। यहाँ विकास व बदलाव हमेशा एक जैसे नहीं होते या हमेशा एक रूप में नहीं आतें है। उदहारण के लिए हिंदी भाषा भारतेंदु हरिश्चन्द्र के समय पर, आज की आधुनिक हिंदी से कुछ अलग थी, जैसे सभ्यता का विकास होता है व उसमें बदलाव आता है वैसे ही उस बदलाव का असर उक्त संस्कृति पर भी आता है। यह बदलाव आता है विसरण, संस्कृति-संक्रमण, संस्कृति-विस्तार, समाजीकरण या फिर उत्संस्करण द्वारा।

**1)विसरण -** संस्कृति विसरण वह प्रक्रिया है जहाँ संस्कृति समिष्ट व संस्कृति लक्षण एक स्थान से संचार के माध्यम से दूसरे स्थान तक पहुँचते है, यहाँ उस संस्कृति का विसरण होता है जो सभ्यता के रूप में ज़्यादा विकास का क्रम ले चुकी हो।

**2) संस्कृति-विस्तार (Trans-Culturation) -** जहाँ दो या उससे अधिक संस्कृतियां आपस में लक्षणों का आदान-प्रदान करती है, उस स्थिति को संस्कृति विस्तार कहतें है।

**3) संस्कृति-संक्रमण (Enculturation) -** वह प्रक्रिया है जिससे मनुष्य अपने या दूसरे समाज कि आधारभूत संस्कृति, जैसे- समाज के विभिन्न व्यवहार, रीति-रिवाज़, गतिविधियाँ इत्यादि को सीखता है।

**4) सामाजीकरण (Socialization) -** सामाजीकरण का अर्थ उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से अंतः क्रिया करता हुआ सामाजिक आदतों, विश्वासों, रीति-रिवाजों तथा परंपराओं एवं अभिवृत्तियों को सीखता है। इस क्रिया के द्वारा व्यक्ति जन कल्याण की भावना से प्रेरित होते हुए अपने आपको अपने परिवार, पड़ोस तथा अन्य सामाजिक वर्गों के अनुकूल बनाने का प्रयास करता है जिससे वह समाज का एक श्रेष्ठ, उपयोगी तथा उत्तरदायी सदस्य बन जाए।

**5) उत्संस्करण (Acculturation) -**वह प्रक्रिया है जिसमें कोई व्यक्ति या समूह किसी दूसरे संस्कृति जिसके वे प्रत्यक्ष संपर्क में आतें है, उसके लक्षण व विशेषताओं का अधिग्रहण करतें है। उत्संस्करण में प्रभावी संस्कृति गौण संस्कृति को काफी हद तक बदल देती है, जिससे उसे आचार-व्यवहार, खान-पान पहनावा व बोलने- समझने के तरीके इत्यादि भी बदल जातें हैं।

## 2.2.2 आधुनिकरण/आधुनिकीकरण (Modernization)

आधुनिकीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें परंपरागत ग्रामीण धार्मिक रूढ़िवादी समाज का रूपांतरण एक धर्म निरपेक्ष आधुनिक औद्योगिक नगरीय समाज में होता है. - ब्रिटानिका इनसाइक्लोपीडिया

इस परिभाषा से हम समझ सकतें है की आधुनिकीकरण सामाजिक व सांस्कृतिक परिवर्तन से आये बदलाव का रूप है व इस बदलाव का मुख्या स्त्रोत है औद्योगिक क्रांति अथवा औद्योगीकरण। आधुनिकीकरण अपनी व्यापक परिभाषा में, आधुनिक सोच, चरित्र, या प्रथा है अधिक विशेष रूप से, यह शब्द उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के आरम्भ में मूल रूप से पश्चिमी समाज में व्यापक पैमाने पर और सुदूर परिवर्तनों से उत्पन्न होने वाली सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के एक समूह एवं सम्बद्ध सांस्कृतिक आन्दोलनों, दोनों का वर्णन करता है। यह शब्द अपने भीतर उन लोगों की गतिविधियों और उत्पादन को समाहित करता है जो एक उभरते सम्पूर्ण औद्योगीकृत विश्व की नवीन आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्थितियों में पुराने होते जा रहे कला, वास्तुकला, साहित्य, धार्मिक विश्वास, सामाजिक संगठन और दैनिक जीवन के पारंपरिक रूपों को नवीन आधुनिक शैली में परिवर्तित कर रहे थे। यदि अधिक गहन रूप में देखें तो औद्योगिक क्रांति से आये सभी बदलाव व उन्नति का प्रयोग कोई समाज करे तो वह आधुनिक समाज की श्रेणी में आएगा।

### 2.2.2.1 आधुनिकता की प्रकृति

समाजशास्त्री योगेंद्र सिंह के अनुसार आधुनिकरण की प्रक्रिया का चरित्र व प्रकृति निम्नलिखित है –

- आधुनिकरण तर्कसंगत बुद्धिपरक संस्कृति संरचना पर सन्निकट होता है।
- वह द्योतक होता है तर्कसंगत आवृति का एवं वृहद् दृष्टिकोण का।
- आधुनिक चरित्र यदि संवेग पर प्रत्रीक्रिया देता है तब वह पराभुनूतिपरक संवेग होतें हैं न की संकुचनशील सोच युक्त संवेग ।
- आधुनिकरण का मूल वैज्ञानिक प्रकृति व वैज्ञानिक दृष्टिकोण में है ।
- इसका धनात्मक सम्बन्ध है समाज में वैज्ञानिक प्रकृति, तकनीकी कौशल व तकनीकी संसाधनों के प्रसारण से जितना ज्यादा तकनीकी कौशल, संसाधन व वैज्ञानिक प्रगति समाज में होगी उतना ज़्यादा आधुनिकरण उक्त समाज में होगा.
- जिस प्रकार संस्कृति उत्क्रांत होती है उस प्रकार आधुनिकरण का भी उत्क्रांत होता है व आधुनिकरण देश काल परिस्थिति के विषयांतर परिवर्तित होता व विकसित होता है.

आधुनिकीकरण के अर्थ भिन्न-भिन्न संदर्भों में भिन्न हो जाते हैं, लेकिन वे सब मिलकर विकास और परिवर्तन की एक दिशा स्थिति को मूर्त करते हैं। अर्थशास्त्रियों के लिए आधुनिकीकरण का अर्थ है: मनुष्य द्वारा तकनीकी ज्ञान का प्रयोग । 'हाथ के स्थान पर मशीन द्वारा वह प्राकृतिक साधनों का उपयोग कर उत्पादन में उल्लेखनीय प्रगति करता है ।' समाजशास्त्रियों या सामाजिक नृतत्वशास्त्रियों के लिए आधुनिकीकरण अवकलन की प्रक्रिया -प्रोसेस आव डिफ्रेन्शियेशन- है जो आधुनिक समाज का लक्षण कहा जाता है । उन्होंने उन पद्धतियों की खोज की जो नयी सामाजिक संरचना के उदय और नयी ज़िम्मेदारियों को वहन कर सकने में सक्रिय होती है। नये पेशों और धन्धों के उदय नयी और संश्लिष्ट शिक्षा द्वारा सामाजिक संरचना में अवकलन या नये समाज के उदय की प्रक्रिया को ही वे आधुनिकीकरण की प्रक्रिया कहते हैं । राजनीतिशास्त्री आधुनिकीकरण की चर्चा करते हुए उन प्रणालियों का ज़िक्र करते हैं जिनके द्वारा शासन, परिवर्तन और नवीनीकरण की अपनी सामर्थ्य में वृद्धि करता है ताकि उसकी नीतियाँ, सामाजिक कल्याण के हित में हो । इस प्रसंग में प्रजातंत्र को आधुनिक शासन प्रणाली कहा जाता है। अक्सर आधुनिकीकरण को स्तरीय शिक्षा, प्रजातंत्र व धर्मनिरपेक्षता जैसे विचारादर्श, राष्ट्रवाद, कुशल नेतृत्व और नियामक शासन से जोड़कर देखा जाता है और माना जाता है कि वृत्यात्मक तब्दीली और मूल्य-पद्धति में परिवर्तन आधुनिक समाज, अर्थव्यवस्था और राज्य के निर्माण की पूर्व शर्त है। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप औद्योगीकरण के साथ ही इस अर्थव्यवस्था में परिवर्तन होता है, परिणामस्वरूप समाज व्यवस्था बदलती है और उसके समानान्तर मूल्य व्यवस्था और जीवन-दर्शन में संक्रांति आ जाती है। तात्कालिक और ऊपरी दृष्टि से यह केवल एक आर्थिक प्रक्रिया नज़र आती है, लेकिन अपने गहन एवं संश्लिष्ट अर्थों में यह जीवन की अंतर्बाह्य संरचना के परिवर्तन की प्रक्रिया है। गाँवों का शहरीकरण या गाँव का शहर में स्थानांतरण सिर्फ ऊपरी रहन-सहन का नहीं, वरन् सारे आचार-विचार, दृष्टि और अनुभूति का परिवर्तन हो जाता है। इस दृष्टि से शहरीकरण, औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण अन्योन्याश्रित माने गए हैं।

योगेंद्र सिंह का मत है की समाज में जितनी तकनीकी उन्नति हो जाये व चाहे जितना भी स्वचालन हो जाये पर यदि किसी भी समाज का दृष्टिकोण वैज्ञानिक व धर्म निरपेक्ष ना हुआ और उसमें अपेक्षित संवेगों की कमी रही तब वह समाज आधुनिक नहीं माना जायेगा । आधुनिकीकरण की प्रक्रिया समाज की संस्कृति को भी बदलाव की लपेट में

लेती है, किसी भी पारंपरिक समाज के लिए यह प्रक्रिया चुनौतीपूर्ण होती है, संस्कृति में बदलाव उपसंस्कृति पलट-संस्कृति, संस्कृति विलंबन जैसी स्थिति उत्पन्न करता है।

**अपनी प्रगति जांचिए:**

**1)** संस्कृति क्या हैं? इसकी विशेषताएं क्या हैं?

**2)** आधुनिकरण के क्या प्रमुख लक्षण है ?

**3)** संस्कृति में परिवर्तन किस प्रकार आता है?

## 2.3 औद्योगीकरण

कल-कारखानों, वैज्ञानिक तकनीक व यातायात के साधनों मे गति के साथ निर्माण प्रक्रिया शुरू हुई और यह औद्योगिकरण निर्माण की प्रक्रिया उद्योगों में और विश्वम मे आरम्भ हुआ। औद्योगीकरण का स्पनष्ट व तर्कपरक संबंध औद्योगिक क्रांति से है। अठ्ठारवीं शताब्दी के मध्यो परान्तऔ प्रारम्भ ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति, जहाँ मशीनों व कलपूर्जों ने इन्सानों का स्थान ले लिया। विश्व के अन्य देशों में भी इस क्रांति का विस्तार हुआ। उत्पाकदन के साधनों का विस्तांर हुआ व नए अन्वेषण व अनुसंधान के माध्यम से कल-कारखानों की उत्पाद क्षमता में बढोत्तरी हुई। मशीनों के आविष्कार के साथ इस तरह हाथ से बनी वस्तुओं का बाज़ार क्रमश: समाप्त प्राय हो गया।

कल-कारखानों की स्था पना से नगरों का विकास हुआ एवं पूँजीवादी अर्थव्यवस्थां सुदृढ़ हो गई । औद्योगीकरण जैसे ही तीव्र गति पकड़ने लगा बैंक, बीमा कम्पनी व वित्त। निगमों का संगठन होने लगा। औद्योगिक श्रमिकों का एक नया वर्ग उदीयमान हुआ और उद्योगपतियों, पूँजीपतियों तथा प्रबंधको ने मुनाफे पर एकाधिकार स्थापित करने का प्रयास किया। श्रमिक वर्ग का शोषण प्रारम्भ हुआ व औद्योगिक स्थापनों की अपनी एक नई संस्कृति विकसित हुई।

### 2.3.1 औद्योगीकरण से उत्पन्न सामाजिक विचार

एमिल दुर्खाइम ने अपने विख्यात निबंध 'डिविजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी' मे कहा कि हर समाज मे 'श्रम विभाजन पाया जाता है, उनका श्रम विभाजन का प्रत्यय सामाजिक व सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य' मे निर्हित है। दुर्खाइम के अनुसार समाज मे श्रम विभाजन व्यक्तियों मे कौशल व विशिष्टता के अनुरूप होता है । उनके अनुसार श्रम विभाजन एक सामाजिक तथ्य है व समाज के अस्तित्व के लिए अपरिहार्य है । अत: समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप श्रम विभाजन की संरचना खड़ी की जाती है। समय के साथ सामाजिक संरचना व क्रिया कलापों मे विकास व बदलाव होता है उसके साथ ही श्रम विभाजन भी जटिल होता जाता है। श्रम विभाजन समाज मे संबंधता लाता है। दुर्खाइम ने समाज को दो श्रेणियों मे विभाजित किया है । पहला अविभेदीकृत समाज जो कि 'यान्त्रिक सुदृढ़ता' पर आधारित होता है जहाँ कानून दमनकारी होता है । विभेदीकृत समाज सावयवी सुदृढ़ता पर आधारित होता है जहाँ कानून पुन:स्थापना पर आधारित होता है।

### 2.3.1.1 दुर्खाइम का श्रम विभाजन का सिद्धान्त

दुर्खाइम के अनुसार सरल तथा यान्त्रिक समाज की आवश्यकताएं सीमित थी फलत: वहाँ श्रम विभाजन सीमित था। अत: यान्त्रिक सुदृढ़ता के अन्दर व्यक्ति का कोई स्वरतंत्र अस्तित्वर नही था। प्रथा तथा परम्पमरा का वर्चस्व था और कठोर दण्ड के प्रावधान के साथ कानून दमनकारी था। धीरे-धीरे मनुष्य की आवश्यकताओं का विकास हुआ व उत्पादन के साधन भी विकसित होते गए। औद्योगीकरण का विकास हुआ, प्रशासन व्यवस्था जटिल होने लगी। श्रम विभाजन में विभेदीकरण के फलस्वरूप समाज सावयवी विभेदीकृत होता गया। सावयवी समाज में विभेदीकृत अवस्थार के होते हुए भी एकता की स्थिति उत्पन्न होती है, सामूहिक चेतना व सामाजिक सुदृढता द्वारा, क्योंकि परस्पर संबंधों का विकास होता है। समाज का स्वरूप जटिल होता है व श्रम विभाजन भी जटिल होता है। व्यवसाय व रोज़गार का भी विकास होता है पर क्योंकि विशेषज्ञता भी बढ़ती है तो व्यक्ति की अपनी पहचान व अस्तित्व भी बढ़ता है। कानून का स्वरूप पुन:स्थापना के लिए होता है। इस तरह श्रम विभाजन के साथ दुर्खाइम ने ना केवल आर्थिक परिवर्तन व औद्योगिक विकास की बात की है, अपितु इसे सामाजिक व्याख्या देकर बहुआयामी बनाया है। दुर्खाइम ने यह भी स्पष्ट किया है कि सामाजिक व्यवस्था की आत्मा सामूहिक चेतना है।

### 2.3.1.2 कार्ल मार्क्स

औद्योगीकरण के विविध आयामों की व्याख्यान मे कार्ल मार्क्स के विचारों का विशेष स्थान है। उन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद, अधोसंरचना व अधिसंरचना, उत्पारदन की शक्तियाँ तथा संबंध और द्वंद्वात्माक संबंध, सामाजिक वर्ग, सामाजिक यथार्थ तथा चेतना आदि का विश्लेँषण किया है। मार्क्स के सिद्धांतो में समाज के दो वर्गो का विशेष स्थान है, उत्पादन शक्तियाँ और वर्ग संघर्ष। उनके अनुसार उत्पादन शक्तियों के विकास एक निश्चित उत्पादन गति व वर्गीय सम्बतन्धोंस की व्यसवस्थाम के मेल से होती है। प्रभावी वर्ग इस अवस्थाक को स्थिर बनाए रखता है। इस तरह उत्पादन शक्तियों का विकास अपने साथ वर्ग संघर्ष ले कर आता है क्योंकि बढ़ता हुआ विकास अपने साथ वर्गो के मध्य टकराव की स्थिति लेकर आता है। वे कहते हैं कि एक ऐसा समय आता है जब सर्वहारा वर्ग मौजूदा व्यवस्था चाहे वह उत्पादन हो या सामाजिक सब को उखाड़ फेकता है व नई सामाजिक व्यवस्था स्थापित करता है। मार्क्स ने समाज को पाँच भेदों में विभाजित किया है – आदिम समाज, प्राचीन समाज, एशियाई समाज, सामंती समाज और पूँजीवादी समाज उनके अनुसार यह विभाजन केवल तकनीकी स्तर या उत्पा दन पद्धति के अर्थों मे नहीं अपितु संपत्ति तथा वर्ग संबंध के परिप्रेक्ष्य में किया गया है।

मार्क्स कहते है कि भौतिक दशाऐं जो कि उत्पादन व तकनीक का साधन है, वे समाज की संरचना व उससे जुड़े हर आयामों को प्रभावित करता है। मानवीय समाज उत्पादन की शक्तियों व उसके संबंधों से बनता है। समाज मे परिवर्तनशीलता अन्त र्निहीत है व परिवर्तन आन्तरिक विरोधामास व संघर्षो के आधार पर होता है। मानव की प्रकृति मे विरोध करने की या विद्रोह करने की शक्ति निहित होती है। मनुष्य जिस तरह इतिहास का निर्माण करता है उस तरह अपनी विद्रोही प्रकृति का भी निर्माण करता है। मार्क्स के अनुसार उत्पादन शक्तियों में होने वाले विकास के साथ उसका टकराव वर्तमान उत्पादन के सम्बन्धों के साथ होता है। उत्पादन की नई शक्तियाँ अपनी जड़े जमा लेती है व नए उत्पादन के सम्बन्धों को जन्म देती है। इस प्रकार नई उत्पा दक शक्ति का विकास व उससे जनित संघर्ष ही मानव समाज का इतिहास है। प्रथम ऐतिहासिक क्रिया वस्तुंओ का उत्पाद है और वस्तुओं के उत्पाद ने ही औद्योगीकरण को

तीव्र किया है। समाज मे होने वाले परिवर्तन की व्याख्या में आर्थिक उत्पाद की व्याख्या की जा सकती है। उत्पादन के साधन पर पूँजीपतियों का स्वामित्व होता है। औद्योगिक श्रमिक सर्वहारा वर्ग होते हैं व उनका उत्पदन के साधनों पर स्वामित्व नही होता है। पूँजीपति को बुर्जुआ नाम दिया जो कि शोषक वर्ग है । बुर्जुआ उत्पादन के साधन पर पूर्ण नियंत्रण रखता है और आर्थिक व राजनैतिक शक्तियों का लाभ उठाता है व शोषण चक्र ज़ारी रखने मे माहिर होता है। इस प्रकार औद्योगिक समाज में उत्पाभदन के सम्बन्ध बुर्जुआ व सर्वहारा के मध्यय होते है । कार्ल मार्क्स ने 'कम्युकनिस्टै मेनिफेस्टोम' मे लिखा है कि सभी समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है । वे कहते है कि या प्रत्यक्ष रूप में या अप्रत्यक्ष रूप में शोषक व शोषित लगातार एक दूसरे का विरोध करते आए हैं व संघर्ष हैं। इस संघर्ष का अन्तर हमेशा या तो संपूर्ण व्यवस्था का क्रांतिकारी निर्माण या दोनों वर्गों की टकराह मे हुआ है। मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धांत ने औद्योगिक संगठ्नों की जमीनी सत्य ता को प्रस्तुत कर औद्योगिक विवाद, औद्योगिक तनाव, श्रमिक संघो का संगठन, तालाबंदी, हड़ताल, सौदेबाज़ी तथा कामगारों के आन्दो लन का वर्ग संघर्ष से सीधा संबंध स्थापित किया है।

### 2.3.1.3 मैक्स वेबर

मैक्सर बेबर ने धर्म तथा आर्थिक व्यवस्था के मध्य मौजूद सम्बन्ध को स्थापित कर औद्योगीकरण व औद्योगिक क्रांति के एक नए अध्याय की। स्थापना की उन्होंने अपनी पुस्तक 'द प्रोटेस्टेंवट एथिक एंड स्पिरिट ऑफ कैपिटलियज्म' मे तुलनात्मक पद्धति द्वारा धर्म तथा आर्थिक व्यवस्था के मध्य तर्क पर संबंध की बात की। उनके अनुसार पूँजीवादी आर्थिक संरचना का कैथोलिक धर्म के साथ स्पष्ट संबंध मौजूद है। वे कहते है कि पूँजीवाद का मूल स्वरूप उद्यमी प्रकृति मे निहित है, जो लाभ पा कर निवेश करना चाहता है। आर्थिक लाभ की इच्छा व तार्किक अनुशासन जो पाश्चात्य पूँजीवाद की विशेषता है, उसे तर्कसंगत नौकरशाही के प्रशासन का आधार देती है। कैथोलिक मत के अनुसार मनुष्य को इस धरती पर ईश्वर की गरिमा तथा प्रतिष्ठा के अनुरूप कार्य करना है, अत: कर्म या कार्य ही पूजा है, परिश्रम धर्म है। आर्थिक क्रियाकलापों मे नियम कानून होने चाहिए तथा आलस्य व निष्क्रियता का कोई स्थान नहीं है । उन्हों ने कहा पश्चिमी देश जैसे इंग्लैण्ड व जर्मनी जहाँ औद्योगिक क्रांति आई है व पूँजीवाद का तीव्र विकास हुआ है वहाँ उसे कैल्विन मतवाद के कारन से प्रश्रय मिला है। कैथोलिक सिद्धांत का यह विशिष्ट तत्व जिसमें तर्कपूर्ण नियमित एवं वैध गतिविधि से धन कमाना निहित है, पूँजीवादी प्रवृत्ति के अनुरूप है । उनके अनुसार कौथोलिक मतवाद, हिन्दू, बौद्ध, इस्लाम, यह तथा कन्फ्यूजशियस धर्मों मे यह संयोग मौजूद नही है। वेबर पूँजीवाद को उत्पादनकारी शक्तियों की वृद्धि मानते है जो कि धार्मिक चेतना पर निर्भर करती है।

**2.3.2** औद्योगीकरण के साथ उद्योग का स्पष्ट संबंध है। लेजली पाल ने दो बिन्दुओ के आधार पर औद्योगीकरण से जन्मी प्रौद्योगिकी को स्पष्ट किया है –

- **यंत्रीकरण (Mechamisation) –** यह वो प्रक्रिया है जिसमे मनुष्य की शारीरिक शक्ति के स्थान पर यन्त्र शक्ति का प्रयोग किया जाता है।
- **स्व्चलन (Automation) –** इस प्रक्रिया के अन्तर्गत मनुष्य की मानसिक शक्ति के बदले यन्त्र शक्ति का उपयोग होता है।

- ए.एन. कर्ण ने औद्योगीकरण की प्रक्रिया को समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में रूपांतरित किया है। वे कहते है -
- औद्योगीकरण एक प्रौद्योगिकी उन्नति की प्रक्रिया है।
- यह सामान्य घरेलू उत्पादन से लेकर वृहद कारखानों के उत्पादन के साथ सम्बन्धित है।
- औद्योगीकरण उद्योग संचालित होने वाले बदलाव के फलस्वरूप आर्थिक सामाजिक प्रक्रिया पर आई प्रतिक्रिया करता है
- औद्योगीकरण मे सामाजिक कारकों की एक व्यापक श्रृंखला मौज़ूद है।
- औद्योगीकरण का स्पष्ट प्रभाव सामाजिक जीवन पर पड़ता है।

**अपनी प्रगति की जाँच कीजिये :**

**1)** औद्योगीकरण के विभिन्न सिद्धान्तों का वर्णन कीजिये।

**2)** औद्योगीकरण की प्रक्रिया क्या है ? अपने शब्दों में वर्णन कीजिये।

लोकतंत्र व्यवस्था में सरकार जनता से, जनता के लिए, जनता के द्वारा होती है - अब्राहम लिंकन द्वारा दी लोकतंत्र की आधुनिक परिभाषा आज की आधुनिक लोकतंत्री अवधारणा को स्पष्ट करती है, जिसमें लोकतंत्र एक निश्चित अवधि के लिए प्राप्त अनुमोदन है। लोकतंत्र स्वतंत्रता व समानता के स्तम्भोंपर खड़ा है। जब प्राचीन एथेन्स मे पेरीक्लीज़ ने लोकतंत्र का नमूना प्रस्तुसत किया तो कहा कि लोकतंत्र वह व्यवस्था है जहाँ जनता सत्ताधारी होती है। जैसे-जैसे ही चुनाव की प्रक्रियाओं में सुधार आता गया "वयस्क मताधिकार" का प्रत्यय, दल व्यवस्था व आधुनिक निर्वाचन प्रक्रिया ने लोकतंत्र को नया जामा पहनाया।

विश्व में औद्योगीकरण के विकास के साथ साम्यवाद का उदय हुआ इस तर्क के साथ कि सामंतवादी व पूँजीवादी व्यवस्था समाज की बहुसंख्य सर्वहारा को शोषित करती है व नजरअंदाज करती है। उन्नीसवीं सदी में प्रसिद्ध इतिहासकर एच.जी.वेल्स ने कहा था कि "यह युग लोकतंत्र का है।" इसी कथन के विपरीत मुसोलिनी ने कहा था कि बीसवीं सदी फाँसीवाद की होगी।

लोकतंत्र ने अपने प्राचीन रूप फिर चाहे वह प्राचीन ग्रीक युग की अवधारणा में निहित था या फिर प्राचीन भारत में षोडश जनपद के कार्यकलाप में गणराज्य संकल्प ना व साम्राज्यवाद के गठन से लेकर आधुनिक 'लेसेस फेंयर' आधारित बाज़ार शक्तियों द्वारा संचालित लोकतंत्र व सामाजिक न्याय से अधिक सम्बद्धता रखने वाला लोकतांत्रिक समाजवाद इत्यादि, अपने उत्त रजीविता में अनेक रूप लिए है व समय, देश व परिस्थिति का तनाव उस पर आया है।

हर मनुष्य के लिए लोकतंत्र का मायना अलग होता है। कुछ इसे राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में आँकते है तो कुछ आर्थिक व सामाजिक दृष्टिकोण से इसे मताधिकार व निर्वाचन तंत्र प्रक्रिया के साथ सरकार व जनता के संबंध द्वारा निष्पादित करते है। आर्थिक रूप में लोकतंत्र नागरिकों के बीच के आर्थिक विभिन्नता की कमी व अवसर की

समानता की उपलब्धता के संदर्भ मे प्रतिपादित होता है । लोकतंत्र की सामाजिक व्याख्या जनता व जनमानस मे संचालित स्वतंत्रता से रहने व स्वाकधीन जीवनशैली की व्यवस्था को इंनित करती है ।

### 2.4.1 लोकतंत्र के दो आधारभूत स्तम्भ:

लोकतंत्र के दो आधारभूत स्तम्भ समानता व स्वतंत्रता सार्वभौमिक व सार्वकालिक रूप से लोकतांत्रिक संप्रत्यय से जुड़े हुए है ।

**1) समानता –** समानता का संप्रत्यय सामाजिक सन्दर्भ में निदेशात्मक होता है ना कि वर्णनात्मक । उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि हर व्यक्ति समान है उसका अर्थ यह नही है कि समानता कोई विशेषता है जो सबके पास है, अपितु अर्थ यह है कि हमे सबके साथ समान रूप से व्यवहार करना चाहिए । व्यक्तियों मे वैयक्तिक विभिन्नता है परन्तु मानव व्यवहार प्रत्येक व्यक्ति के लिए एकरस व समान रहेगा किसी बर्ताव में या व्यवहार में विभेदीकरण नहीं किया जाएगा तब कहना उचित होगा कि उक्त समाज में समानता का प्रचलन है । समानता के वातावरण में हर व्यक्ति के व्यक्तिगत मूल्य व आत्मिक मर्यादा की गरिमा बनाई रखी जाती है बिना उसकी जाति, लिंग, वर्ग, रंग, स्थान, क्षमता इत्यादि पर विचार किए ।

यही धारणा जब व्यवहार विषयक बन जाती है तब हर व्यक्ति को समान अधिकार समान अवसर, समान व्यवहार व समान सुरक्षा अपनी न्यायपालिका व शासन व्यवस्था से मिलती हैं । आज के युग में हर सभ्य समाज में यह समानता देखने को मिलती है ।

**2) स्वतंत्रता –** लोकतंत्र दर्शन का दूसरा महत्व पूर्ण पहलू स्व तंत्रता है। स्वतंत्रता को मानव का जन्मत सिद्ध अधिकार माना गया है । व्यक्ति जन्मक से ही स्वतंत्र है और उसका सृजन एक समान है। इसलिए व्यक्ति पर कोई अंकुश लगाने के लिए कोई ऐसा कानून नही बना सकते जिसके लिए प्रत्य क्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उसकी रजामंदी ना हो ।

स्वतंत्रता का महत्वपूर्ण संप्रत्यय नागरिक स्वतंत्रता है। नागरिक स्वतंत्रता का आशय मानव जीवन को व संपत्ति को दमनकारी, एकपक्षीय व निरंकुश अतिक्रमण से बचा कर समान नागरिक अधिकार सौपना है।

### 2.4.2 वैयक्तिक स्वायत्तता

स्वतंत्रता के नागरिक, धार्मिक, राजनैतिक मायनो के विकास के बाद उन्नीसवीं सदी के मध्य यह अनूभूति हुई कि स्वतंत्रता का एक और आयाम है –वैयक्तिक स्वतंत्रता या वैयक्तिक स्वायत्तता ।

वैयक्तिक स्वतंत्रता अथवा वैयक्तिक स्वायत्तता से आशय है उस स्वायत्तता के अधिकार का जो एक व्यक्ति को स्वयं की क्षमताओं के विकास करने व उन क्षमताओं को भरपूर उँचाईया प्रदान करने हेतु प्रयोग की जाती है । हम इस नज़रिये से भी देख सकते है कि जब किसी व्याक्ति पर दमनकारी कानून लागू होता है, व्यक्ति को अपनी स्वायत्तता का उल्लंघन महसूस होता है, जब शासन द्वारा बनाए नीति नियम किसी पर हानिकारक सिद्ध होते है तो व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत निज स्वायत्तता का प्रयोग लोकतांत्रिक प्रक्रिया द्वारा करता है। इसी निज स्वायत्तता का ऋणात्मक पहलू व्यक्ति पर किसी भी प्रकार के अंकुश की अनुपस्थिति भी है । जब निज स्वायत्तता का धनात्मक पक्ष देखा जाए तो वह उस परिस्थिति को इंगित करती है जहाँ व्यक्ति अपनी क्षमताओं का विकास कर अपने मूल-स्व की प्राप्त कर सकता है।

क्योंकि वैयक्तिक स्वायत्तता की संकल्पना जन्मजात संभावित होती है अत इसे व्यक्ति की सबसे बहुमूल्यो निधि मानी जाती है। हर व्यक्ति को इसकी आवश्यकता है व्यक्ति में इसे दूसरे व्यक्तियों को अनुदान करने की भावना होनी चाहिए। वैयक्तिक स्वायत्तता का आदर्श गतिशील है और जैसे ही सभ्यता का विकास होता है और उसकी सीमाएं बढ़ती है स्वतंत्रता और स्वायत्त्ता का स्वरूप व अर्थ भी बदलता है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह जन्मजात स्वतंत्र है परन्तु पैदा समाज मे ही होता है। अत: स्वतंत्रता व स्वायत्तता वह है जो समाज उत्पन्न करता है क्योंकि व्यक्ति के हर अधिकार का स्रोत समाज होता है। व्यक्ति समाज से अलग या समाज के विरूद्ध कोई अधिकार निष्पादित करे तब वह उक्त समाज के सदस्यों का अधिकार हनन का भागी भी हो सकता है। अत: वैयक्तिक स्वतंत्रता का अर्थ ज़्यादा प्रभावकारी तब होता है जब उसका अनुभव उस विस्तार से किया जाए जिसमें व्यक्ति द्वारा निष्पादित स्वत:स्फूर्त क्रियाओं का वातावरण रहे ना कि प्रतिबंधो का अभाव युक्त वातावरण।

**अपनी प्रगति जाँच लीजिये :**

1) लोकतंत्र के दो आधारभूत स्तम्भ क्या हैं ?
2) वैयक्तिक स्वायत्ता से क्या आशय है ?

## 2.5 अंबेडकर के सन्दर्भ में आधुनिक मूल्य जैसे समानता

डॉ० भीमराव रामजी अंबेडकर एक विश्व स्तर के विधिवेत्ता थे। वे एक बहुजन राजनीतिक नेता और एक बौद्ध पुनरुत्थानवादी होने के साथ साथ, भारतीय संविधान के मुख्य शिल्पकार भी थे। वे बाबासाहेब के नाम से लोकप्रिय हैं। बाबासाहेब अंबेडकर के जीवन व दर्शन में स्पष्ट रूप से समानता व आधुनिकता का समावेश झलकता है, उनके विचारों में समानता के प्रमुख तत्त्व इस प्रकार हैं –अंबेडकर समता के सिद्धांत को वैचारिक एवं व्यावहारिक दोनों रूपों में महत्व देते थे। उन्होंने यह माना कि सब मनुष्य समान पैदा नहीं होते, परन्तु उन्होंने प्रश्न किया कि क्या सभी मनुष्यों के साथ इसलिए असमानता का व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि वे असमान जन्मे हैं। अम्बेडकर ने स्पष्ट किया कि ‘जहां तक व्यक्तिगत प्रयत्नों का संबंध है उनको भिन्न अथवा असमान माना जा सकता है, किन्तु लोगों को अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा एवं शक्ति को प्रदर्शित करने का अवसर तो दिया जाना चाहिए ताकि वे अपने को प्रगतिशील बनालें और समाज में कुछ योगदान कर सके। यदि व्यक्तियों को असमान ही समझकर व्यवहार किया जाए, तो उनकी द अकल्पनीय हो जाएगी। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार यदि ऐसा ही ठीक समझा जाए, तो जिन व्यक्तियों के पक्ष में जन्म, धन, शिक्षा, परिवार, नाम एवं व्यावसायिक संबंध हैं वे ही लोग मानव दौड़ में प्रथम आएंगे। उन्हीं को अवसर प्राप्त होंगे। परन्तु यह एक कृत्रिम चुनाव होगा जिसका आधार विशेष प्रतिष्ठा होगी न कि योग्यता । डॉ. अम्बेडकर की दृष्टि में, चुनाव हमेशा योग्यता के अधार पर ही होना चाहिए, अन्यथा सामाजिक प्रजातंत्र एवं मानवतावाद के प्रति घोर अन्याय होगा। उन्होंने यह भी कहा कि ‘वे लोग जो बिना सुविधाओं के आगे नहीं बढ़ सकते, उन्हें आवश्यक रूप से सुविधाएं दी जानी चाहिए। ऐसा कार्य न्याय तथा निष्पकता से किया जाए, तो बहुत अच्छा होगा। उनके अनुसार यदि कोई समाज अपने सदस्यों को प्रगतिशील, उत्तम और उत्तरदायी बनाना चाहता है, तो यह समता को आधार मानकर ही संभव हो सकता है, इसलिए नहीं कि सब लोग समान हैं, बल्कि इसलिए कि उनका न्याय संगत विभाजन करना

असंभव है। उन्होंने अवसरों की एकता पर बल नहीं दिया, अपितु प्राथमिकताओं की समता को न्यायोचित स्थान दिया। लोकतंत्र में समानता बहुत जरूरी है।

**1 समान नागरिकता-** उनका मानना था कि अछूत प्रथा की समाप्ति को बहुमत की इच्छा पर नहीं छोड़ा जाए, बहुमत के शासन की स्थापना से पूर्व ही अछूतों को इस प्रथा से मुक्त कर दिया जाए। उन्हें नागरिकता का दर्जा देते हुए वे सभी नागरिक अधिकार दिए जाएं जो सामान्य रूप से अन्य नागरिकों को दिए गए हैं, जो लोकतांत्रिक पद्धति पर आधारित हो।

**2 मौलिक अधिकार-** अस्पृश्यता की समाप्ति तथा नागरिक समानता प्रदान करने के लिए निम्न मूल अधिकारों को संविधान का अभिन्न अंग घोषित किया जाना चाहिए। भारत में राज्य के सभी नागरिक कानून के समक्ष समान हैं तथा समान नागरिक अधिकारों का उपयोग करते हैं। विद्यमान ऐसा कोई भी नियम, विधान, आदेश, परम्परा या कानून की ऐसी व्याख्या जो राज्य के नागरिकों के साथ भेदभाव करती है या अस्पृश्यता पर आधारित दण्ड, हानि व निर्योग्यता आरोपित करती है तो वह संविधान के लागू होने के दिन से निष्प्रभावी होगी।

**समान अधिकारों का स्वतंत्र उपयोग-** समान अधिकारों के उपयोग में निस्सदेह दलितवर्ग को रूढ़िवादी समाज के विरोध का सामना करना पड़ेगा। ऐसे में यदि अधिकारों की घोषणा मात्र धार्मिक प्रवचन ना होकर हकीकत हो तो दलितों द्वारा प्रयुक्त अधिकारों में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप के विरूद्ध दण्ड व्यवस्था द्वारा संरक्षण दिया जाए।

**विधायिका में पर्याप्त प्रतिनिधित्व-** अपने हितों की रक्षा के लिए दलितों को पर्याप्त राजनीतिक अधिकार दिए जाएं ताकि वे विधायिका तथा कार्यपालिका को प्रभावित कर सके। इसके लिए निर्वाचन संबंधी कानून में निम्न व्यवस्था की जानी चाहिए। देश के केन्द्रीय और प्रान्तीय विधायिकाओं में दलितों को उचित प्रतिनिधित्व का अधिकार, अपने प्रतिनिधित्व के रूप में दलित वर्गों द्वारा ही साथियों का चुनाव, चुनाव का आधार वयस्क मताधिकार, प्रथम दस वर्षों के लिए पृथक् निर्वाचन तथा तत्पश्चात् आरक्षित स्थानों सहित संयुक्त निर्वाचन ।

**सरकारी सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व -** ऐसा माना जाता रहा है कि दलित वर्ग का उच्च जाति के अधिकारियों द्वारा उत्पीड़न किया गया है। उन्होंने कानून तथा अपनी निर्णयात्मक शक्तियों का दुरूपयोग दलित वर्ग के प्रति पूर्वाग्रह और सवर्णो के हित में किया, ऐसा करते हुए उन्होंने न्याय, समानता तथा अन्तःकरण की अवहेलना की, अतः सार्वजनिक सेवाओं में सवर्ण हिन्दुओं के एकाधिपत्य को समाप्त करके नई भर्ती इस प्रकार की जाए कि दलित वर्गों सहित सभी समुदायों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिल सके। विधायिका के पारित प्रस्ताव के बिना कोई भी सदस्य अपने पद से हटाया नहीं जा सकता और सेवानिवृत्ति के बाद क्राउन के अधीन किसी भी ऑफिस में काम नहीं कर सकता ।

**विशेष विभागीय संरक्षण-** दलित वर्ग की उन्नति के लिए दलित वर्ग भारत सरकार से मांग करता है कि इस वर्ग की समस्याओं के संदर्भ में कार्य संचालन के लिए एक कार्यरत विभाग होना चाहिए, जो दलित वर्ग के हितों की देखरेख करे तथा इसका कार्यभार निर्वाचित विधायिका के मंत्री के पास होना चाहिए। इस मंत्री को प्रदत शक्तियों का प्रयोग करते हुए ऐसे कदम उठाने चाहिए जिनके द्वारा दलित वर्ग पर अत्याचार तथा दमन को समाप्त करके इसकी उन्नति के लिए काम किया जा सके।

**मंत्रिमंडल में प्रतिनिधित्व-** विधायिका में प्रतिनिधित्व के समान ही सरकार के कार्यों और नीति निर्माण में भी दलित वर्ग को अवसर मिलना चाहिए । यह तभी संभव हो सकता है जबकि इस वर्ग को मंत्रिमण्डल में स्थान मिले, इसलिए अन्य अल्पसंख्यकों के समान ही दलित वर्ग का दावा है कि मंत्रिमण्डल में उसके नैतिक अधिकारों को मान्यता दी जाए। अम्बेडकर का मानना था कि सत्ता की प्राप्ति करने वाले अछूत न केवल अपने जन्म सिद्ध अधिकारों को हासिल

कर सकते हैं अपितु राज्य भी अपनी सम्पूर्ण इच्छा शक्ति से दलितों के कल्याण व न्याय की प्राप्ति में सहायक हो सकता है। उनका दृढ़ मत था कि राजनीतिक सत्ता में भागीदार बनकर ही दलित वर्ग राज्य की मशीनरी का प्रयोग अपनी मुक्ति के लिए कर सकते हैं।

**नारी के प्रति दृष्टिकोण-** अम्बेडकर नारी को पुरूषों के समान मानते थे। उनका उदार दृष्टिकोण था। उन्होंने कहा कि नारी-वर्ग का सुधार ही समाज सुधार है और अन्ततः राष्ट्र का सुधार है। इसलिए उन्होंने अपने सम्मेलनों, सभाओं में भाषण उपदेश देकर नारी वर्ग को जागृत करने का प्रयास किया। अम्बेडकर का मानना था कि नारी को पुरूषों के समान ही सभी क्षेत्रों में अधिकार मिलने चाहिए। उनको पुरूषों के समान स्वतंत्रता और सम्मान प्राप्त होने चाहिए। उन्होंने नारी-दास्य का उन्मूलन करने का प्रयत्न किया, जिससे यह सिद्ध होता है अम्बेडकर नारी उद्धारकर्ता थे। परम्पराओं के परिणामस्वरूप महिला पुरूषों के हाथों का खिलौना बनी, वह पुरूष की वासना तृप्ति का साधन रही। इसलिए सदैव पुरूष महिला के स्वतंत्रता में बाधक रहा है। उनका मानना था कि विश्वत के सभी देशों में पुरूषों ने स्त्रियों को अपनी सेवा और भोग - विलास की वस्तु बनाया है। उसे भोजन बनाने और बच्चे पैदा करने की मशीन बनाकर उसे सारे मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया । उनके विचारों में हिन्दू संस्कृति में नारी को अपनी अंध दासता में इस कदर जकड़ लिया कि पुरूष की आज्ञा का उल्लंघन करने की शक्ति उनमें नहीं थी । नारी को धर्म ने बताया कि पति के चरणों में तुम्हारा स्वर्ग है, तुम्हारा पति ही तुम्हारा ईश्वर है। तुम उसके लिए अपनी जीवन समर्पण कर दो और पति के न रहने पर तुम्हारे लिए उत्तम है कि तुम भी उसके साथ उसके शव को गोद में रखकर चिता में जल जाओ।

अम्बेडकर स्त्रियों की स्वतंत्र भूमिका पर प्रतिबंध के विरोधी थे। उन्होंने हिन्दू समाज में सम्पत्ति के उत्तराधिकार, निःसंतान होने पर किसी पुत्र या पुत्री के गोद लेने पर पुनः विवाह आदि के संदर्भ में स्त्रियों के साथ भेदभाव करने का विरोध किया । वे स्त्रियों को सभी लोकतांत्रिक अधिकार प्रदान करना चाहते थे। उनका मत था कि नारी को नारी होने के कारण अधिकारों से वंचित नहीं किया जाना चाहिए। अम्बेडकर ने मनुस्मृति के विधान का विरोध कर मनुस्मृति की होली जलाई । उन्होंने हिन्दू एक्ट बनाकर मनुस्मृति के विधान को निरर्थक सिद्ध किया । मनुस्मृति के अनुसार नारी की स्वतंत्र सत्ता या स्वतंत्र स्थिति नहीं है और उसे ज्ञान तथा धन प्राप्ति का अधिकार नही है और वह धर्म कार्य करने के योगय नहीं है। यहां तक की उत्तरदायित्व का बोझ उस पर लादा गया। महिला को जन्म से मृत्यु तक पुरूष की सुरक्षा और अधीनता में रहने की अनिवार्य स्थिति बनाई गई। महिला की बाल्यकाल में पिता, युवाकाल में पति, वृद्धावस्था में पुत्र रक्षा करता है। इस स्थिति में कहीं पर भी नारी को स्वतंत्रता का अधिकार नहीं मिला। सामाजिक और धार्मिक पर्वों पर उसे पुरूषों की तुलना में गौण स्थान दिया गया। अम्बेडकर ने महिला की स्थिति सुधारने के लिए हिन्दू कोड बिल तैयार कर हिन्दू समाज में क्रांति ला दी । अम्बेडकर ने महिला को पति और पिता की सम्पूत्ति में हिस्सा दिलाया। बालिग नारी की सहमति के बिना विवाह नहीं हो सकता । वह अपनी सहमति से किसी भी वर्ग एवं जाति के पुरूष के साथ विवाह कर लेती है तो वह विवाह वैध माना जाएगा। पति के अत्याचारों से बचने के लिए विवाह संबंध विच्छेद करने का भी अधिकार होगा। प्राचीन काल में अनेक पत्नियां रखने की परम्परा थी। अम्बेडकर ने भारत में एक पत्नी रखने का कानून स्थापित किया। उन्होंने भारतीय संविधान में नारी मुक्ति के लिए अनुच्छेद 15 (1) द्वारा लिंग के आधार पर किए जाने वाले भेद को समाप्त किया । नारी को पुरूष के समान सारे राजनीतिक अधिकार प्रदान किए गए । अनुच्छेद 14 द्वारा नारी को पुरूष के समान बराबरी का दर्जा दिलाया और एक समान कार्य के लिए समान वेतन दिलाने की व्यवस्था की । अम्बेडकर नारी शिक्षा के हिमायती थे। उनका कहना था

कि स्त्रियों की प्रगति जितनी मात्रा में हुई होगी, उसके आधार पर मैं उस समाज की प्रगति नापता हूँ। भारत का पतन और अवनति का एक प्रमुख कारण नारी अशिक्षा रहा है। नारी को पुरूष के समान शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए।'

**जाति व्यवस्था-** अम्बेडकर ने समाज के एक बड़े समूह को समस्त मानवीय अधिकारों, स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व, आत्मसम्मान, आत्माभिव्यक्ति, भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति से वंचित करने के लिए जाति व्यवस्था को उत्तरदायी माना। उन्होंने गहन अध्ययन तथा विश्लेषण द्वारा जाति व्यवस्था की उत्पत्ति, प्रकृति, विशेषताओं और कमजोरियों को स्पष्ट करते हुए कहा कि जब तक जाति व्यवस्था कायम रहेगी, भारतीय समाज न तो समानता पर आधारित रह सकता है और ना ही ऐसी व्यवस्था में व्यक्ति को अपने प्राकृतिक मानवाधिकार ही हासिल हो सकता है। सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए काम करने वाले तत्कालीन समाज सुधारकों के दृष्टिकोण से अम्बेडकर की विचारधारा का फर्क इस आधार पर था कि अन्य समाज सुधारकों (राजाराममोहन राय, दयानंद सरस्वती, विवेकानंद, रानाडे, फुले) ने विद्यमान कुरीतियों - विधवा पुनर्विवाह निषेध, नारी अशिक्षा, बाल विवाह, अस्पृहश्याता आदि का समान रूप से विरोध करते हुए इस क्षेत्र में सुधार के लिए प्रचार का कार्य किया । जबकि अम्बेडकर का मानना था कि समस्त कुप्रथाओं और असमानताओं की जड़ जाति व्यवस्था है। अतः यदि जाति व्यवस्था समाप्त हो जाए तो समानता पर आधारित हिन्दू समाज का पुनर्निर्माण संभव हो सकता है। जाति व्यवस्था कोई मूर्त इमारत या वस्तु नहीं है, जिसे तोड़कर तुरंत नई इमारत खड़ी की जा सके। जाति ईटों की दीवार या कटेदार तारों की लाइन जैसी वस्तु नहीं है, जो हिन्दुओं को आपसी मेल मिलाप से रोकती हो, जाति तो एक धारणा है और यह एक मानसिक स्थिति है।

**अस्पृश्यता -** अम्बेडकर का लक्ष्य था, हिन्दू समाज में व्याप्त अस्पृश्यता जैसी बुराईयों को खत्म करना तथा सामाजिक दृष्टि से पीड़ित समाज को समानता की स्थिति में लाना । जाति व्यवस्था केवल पृथक-पृथक असमान समूहों का ही संगठन नहीं है, अपितु इसका सबसे दूषित तथा कलंकित रूप अस्पृश्यता के रूप में स्पष्ट दिखाई देता है। हिन्दू समाज के कुछ समुदायों को अछूत समुदाय की श्रेणी में रखना हिन्दू धर्म की एक ऐसी अनोखी प्रथा है, जिसका विश्व में कहीं कोई सादृश्य नहीं मिलता । इन समुदायों की इस अपवित्रता का कोई उपचार नहीं है, यह स्थाई है। अस्पृश्यता का अर्थ परिभाषित करते हुए अम्बेडकर ने कहा अछूतों के स्पर्श से अपवित्र होने पर सवर्ण हिन्दू पवित्रकारी रस्मों या नुस्खों के सम्पादन द्वारा ही पवित्र हो सकते हैं, लेकिन ऐसे किसी भी प्रकार के नुस्खे से अछूतों को पवित्र नहीं किया जा सकता। इस मान्यता के अनुसार अपृश्यक अपवित्र ही जन्म लेते हैं, आजीवन अपवित्र रहते है, अपवित्र ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं तथा वे ऐसे बच्चे को जन्म देते है, जो अस्पृश्यता का कलंक अपने साथ लेकर पैदा होते हैं। यह स्थाई और वंशानुगत कलंक का मुद्दा है, जिसे कोई चीज मिटा नहीं सकती।'

**अम्बेडकर के आर्थिक विचार**

**1. धन का वितरण-** उन्होंने कहा था कि धन का न्याय पूर्ण वितरण अधिक जरूरी है। धन के वितरण का उद्देश्य भी मानव सुख है। सामाजिक उपभोग का स्तर ठीक है। सकता है जब उत्पादन के लाभों का बंटवारा उत्पादन के साधनों के अनुकूल हो। यदि धन का वितरण उत्पादन के साधनों के अनुरूप है, तो सामाजिक उपभोग के स्तर, को स्वयं बढ़ने की स्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं।

**2. उत्पादन के साधनों के अधिकार-** आर्थिक सहायता, असमानता, उत्पादन के साधनों के वितरण से प्रभावित होती है। उत्पादन की परम्परागत प्रणालियां ही आर्थिक असमानता के लिए उत्तरदायी हैं। कृषि और उद्योग के क्षेत्र में तकनीकी जड़ताएं और वितरण की असमानताएं आर्थिक असमानता को उत्पन्न करती हैं। लघु आकार के उत्पादन

संयंत्र और संस्थाएं उत्पादन का विस्फोट नहीं कर पाते हैं। मूलतः ऐसे उत्पादन साधन केवल प्रकृति की दया पर निर्भर करते हैं। अनिश्चय और संशय के वातावरण में विकास संदिग्ध हो जाता है। जब तक उत्पादन प्रणाली को प्रकृति की निर्भरता से दूर कर यंत्रीकृत स्वरूप पर आधारित नहीं किया जाता तब तक उत्पादन की विपुलता और त्वरित प्राप्त नहीं हो सकती है। धन के समान वितरण के लिए उत्पादन के साधनों की भागीदारी बढ़ाई जानी चाहिए। उत्पादन के साधनों पर सामाजिक अधिकार बढ़ते जाते हैं, तो उत्पादन के विस्फोट का लाभ भी सामाजिक क्षेत्र में बढ़ता जाता है। यही कारण है कि अम्बेडकर ने समाजवाद की अनुशंसा की। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा व्यक्तिगत उपक्रम क्षमता के विरूद्ध थे। वे इन्हें जीवित रखना चाहते थे जो व्यक्तिगत लाभों को राष्ट्र को समर्पित करते हैं। व्यक्तिगत क्षमता, दक्षता और ज्ञान भी राष्ट्र की ही धरोहर माना जाना चाहिए।

उत्पादन के साधनों के क्षेत्र में उन्होंने अवसरों की समानता को आवश्य क माना है। यदि सभी साधनों को अपनी भागीदारी निभाने का पूरा अवसर नही दिया जाता है तो लाभ का विकेन्द्रीकरण ही नहीं होगा। हमारी परम्परागत आर्थिक संस्थाएं अवसरों की समानताओं को समाप्त करती हैं इसलिए डॉ. अम्बेडकर ने व्यापार, उद्योग, कृषि एवं सेवा क्षेत्रों में विद्यमान साहूकारी प्रणाली, जमींदारी प्रथा, हुण्डी प्रणाली, जातिगत आधार पर उद्योग आदि में सुधार को आवश्यक माना। आर्थिक समानता के लिए यह जरूरी है कि बड़ी-बड़ी संयुक्त पूंजी कम्पनियां स्थापित हों भूमि का समान वितरण हो, भूमि सुधार कानूनों से भूमिहीनों को भूमि दी जाए। अम्बेडकर का सुझाव था कि देश में विद्यमान लाखों एकड़ जमीन बंजर पड़ी है उसका आवंटन प्राथमिकता से छोटी, पिछड़ी एवं अछूत जातियों को किया जाना चाहिए।

वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता के समर्थक थे, किन्तु चाहते थे कि समता की स्थापना की लक्ष्यपूर्ति के लिए उत्तराधिकार के नियमों में संशोधन किए जाएं, जिससे धन के वितरण को न्यायपूर्ण रूप से प्रोत्साहित किया जा सके। अर्थात उत्तराधिकार को वे कहीं सीमित करना चाहते थे। बड़ी जमींदारियां जो वंशगत चल रही हैं उनके वास्तविक हक हकदारों को मिल जाना चाहिए। उत्तराधिकार के इन नियमों से न केवल असमान वितरण होता है अपितु स्वतंत्रता में भी बाधा उपस्थित होती है। कुछ शक्तिशाली लोग अधिकारों का केन्द्रीयकरण कर शेष लोगों की स्वतंत्रता प्रतिबंधित कर देते हैं।

अम्बेडकर ने समाज की संरचना का अध्ययन व अवलोकन करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि यदि असमानता और अन्याय की पोषक जाति व्यवस्था तथा अस्पृश्यता को समाप्त करना है तो उनके औचित्य को सिद्ध करने वाले हिन्दू धर्म शास्त्रों की 'सार्वभौमिकता' को नष्ट कर हिन्दू धर्म की तदनुसार, पुनःव्याख्या करना अनिवार्य है। उन्होंने इस संदर्भ में न केवल हिन्दू धर्म की कमजोरियों पर तार्किक प्रहार किए, अपितु धर्म के वास्तविक स्वरूप व विशेषताओं की सामाजिक संदर्भ में विवेचना की। हिन्दू धर्म की दुर्बलता की ओर संकेत करते हुए, वास्तविक धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि 'वह धर्म जो अपने दो अनुयायियों में भेदभाव' उत्पन्न करता हो, वह धर्म जो अपने अनुयायियों को कुत्तों तथा बिल्लियों से बदतर मानता हो, वस्तुतः वह धर्म नहीं है। उपर्युक्त बातों को धर्म का नाम नहीं दिया जा सकता।

## 2.6 वैयक्तिक अवसर

लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में समाज और राज्य का अस्तित्व नहीं था, तब व्यक्ति एक समान और प्रकृति के नियम और दायरे में जैसा चाहे वैसे करने के लिए स्वतंत्र था। लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति को

प्राकृतिक अधिकार जैसे जीवन जीने की स्वतंत्रता, सम्पत्ति का अधिकार तो था लेकिन शान्ति और सुरक्षा नहीं थी, इसलिए मनुष्य ने एक समझौते के द्वारा नागरिक समाज की स्थापना की, जिसमें उसने सुरक्षा के बदले अपने अधिकारों को कुछ हद तक सीमित किया। उन्होंने कहा की सरकार का निर्माण न्यास के द्वारा होता है और सरकार के निर्माण के बाद भी सर्वोच्च शक्ति आम जनता के पास रहती है और उसके प्राकृतिक अधिकार वैसे ही बने रहतें हैं. क्योंकि सरकार के द्वारा व्यक्तिओं के अधिकार सीमित किये जातें हैं इसलिए सरकार तभी वैध होती है जब आम सहमति पर आधारित होती है। उनके राजनीतिक मत में शक्ति का उपयोग सार्वजनिक शुभ के लिए और सहमति के आधार पर किया जाना चाहिए। इस तरह लॉक ने व्यक्ति को साध्य और समाज को साधन बताया। बेन्थम और मिल ने कहा है कि व्यक्ति के प्रत्येक कर्म और सरकार के प्रत्येक कदम की जांच उपयोगिता सिद्धांत के आधार पर की जानी चाहिए, यह देखना चाहिए की उनसे सुख की वृद्धि होती है या उससे विपरीत दिशा में जातें हैं। बेन्थन के अनुसार जो व्यक्ति समुदाय के सदस्य होतें हैं उनसे अलग समाज एक काल्पनिक सत्ता है, समाज का हित समाज के सदस्य व्यक्तियों के हित में समाहित है तथा व्यक्ति के हित को समझे बिना समाज के हित को समझना बेकार है।

व्यक्ति हर समाज के मूल में रहता है, यह सही है की सहयोगात्मक सामाजिक संबंधों से व्यक्ति की क्षमताओं का विकास होता है.लेकिन समाज कि प्रगति का पैमाना व्यक्ति की प्रगति है। किसी समूह के अस्तित्व के लिए व्यक्ति के अस्तित्व का होना ज़रूरी है, व्यक्ति से स्वतंत्र किसी राष्ट्र, वर्ग या सामूहिक अहं के अस्तित्व को मान लेना गलत है। व्यक्ति को प्राप्त स्वतंत्रता, अवसर और सुख सामाजिक विकास का एक आदर्श है, किसी भी सामूहिक प्रयत्न या सामाजिक संगठन की सफलता का मानदंड उससे समूह कि इकाई व्यक्ति को मिलने वाला वास्तविक लाभ है।

वैयक्तिक अवसर को परिभाषित करें तो इस स्थिति में समाज अपने सदस्यों को जीवन स्थिति, आर्थिक हालत और जीवन में गुणवत्ता लाने के लिए वो हर संभव मौके देता है जो उक्त समाज से स्वीकृत है। मोटे तौर पर इसका अर्थ ऐसे सामाजिक वातावरण से है जिसमें व्यक्तियों को शिक्षा, रोजगार (जीविका), स्वास्थ्य-सुविधा आदि की प्राप्ति में ऐसे चीजों के आधार पर भेदभाव न किया जाता हो जिन्हे व्यक्ति कोशिश करके भी नहीं बदल सकता। वैयक्तिक अवसर के निर्माण एवं क्रियान्वयन के लिये सरकार और संस्थाएँ तरह-तरह के उपाय करतीं हैं। अवसर प्रदाता संस्थाएँ निम्नलिखित चीजों के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं करतीं-

- लिंग
- जाति
- वैवाहिक स्थिति
- कैरीयर से जुड़े उत्तरदायित्व
- अपंगता
- आयु
- राजनैतिक झुकाव
- धार्मिक विश्वास

किसी भी सरकार का दायित्व होता है बिना किसी जात-पात के भेद के, या बिना किसी धर्म, जाति का फर्क किए हुए, अथवा किसी भी अन्य प्रकार का विभेदीकरण न करते हुए, लोगों को इस तरह से अवसर उपलब्ध करवाना कि जहां

हर एक व्यक्ति अपनी क्षमता का भरपूर रूप से अनुप्रयोग कर सके, भरपूर जीवन जी सके, अवसरों का यह रूप ही किसी व्यक्ति को सरकार ओर से दी जाने वाली श्रेष्ठ विरासत मानी जा सकती है।

हमारे संविधान में सभी देशवासियों को समान अधिकार प्राप्त हैं,अब वह चाहे गरीब मजदूर हो या दलित वर्ग का कोई नागरिक हो ,सब बराबर सम्मान के योग्य है। हजारों वर्षों से दबे कुचले रहे दलित वर्ग को आरक्षण प्रदान कर, देश की मुख्य धारा में मिलाकर आगे बढ़ने का अवसर दिया गया। देश के सभी नागरिकों को अपनी इच्छानुसार जीवन यापन के लिए रोज़गार के समान अवसर दिए गए हैं। प्रत्येक नागरिक को न्याय पाने का पूर्ण अधिकार है, भले ही वह अपराधी ही क्यों न हो, उसे दंड मिलेगा तो सिर्फ कानूनों के अनुसार ही मिलेगा। यह सब देश में लोकतान्त्रिक व्यवस्था स्थापित होने के कारण संभव हो सका, देश के प्रत्येक नागरिक को संविधान में वर्णित नियमों के अनुसार चलना होता है फिर चाहे वह कितना भी बड़ा क्यों न हो। कहने का तात्पर्य यह है संविधान प्रत्येक व्यक्ति से ऊपर है, जो तानाशा ही शासन या विदेशी शासन में संभव नहीं हो सकता। बहुत से लोगों का विचार है कि वैयक्तिक अवसर एक मिथक मात्र है जबकि समान अवसर के द्वारा वैयक्तिक अवसर का सिद्धान्त व्यावहारिक धरातल पर उतारा जा सकता है और अधिक उपयोगी है। समान अवसर की नीति का लक्ष्य होता है कि संस्था में विविधता सुनिश्चित की जाय।

## 2.7 सामाजिक न्याय एवं नैतिकता और शिक्षा

### 2.7.1 सामाजिक न्याय

एक विचार के रूप में सामाजिक न्याय की बुनियाद सभी मनुष्यों को समान मानने के आग्रह पर आधारित है, इसके मुताबिक किसी के साथ सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पूर्व ग्रहों के आधार पर भेदभाव नहीं होना चाहिए। हर किसी के पास इतने न्यूनतम संसाधन होने चाहिए कि वे 'उत्तम जीवन' की अपनी संकल्पना को धरती पर उतार पाएँ। सामाजिक न्याय समाज के कमजोर वर्ग के प्रति बेहतर बर्ताव की मांग कर सकता है परन्तु यह सिर्फ समाज में व्याप्त असंतुलन को दूर करने के लिए है न कि किसी को प्रताड़ित करने या किसी के प्रति अन्याय के लिए। सामाजिक न्याय प्रमुख रूप से वह आचार संहिता है जिसे समाज बहुआयामी विकास के लिए लागू करता है और पालन करता है। क्रमिक विकास में मनुष्य अपनी बुद्धि से सर्वजेता होने का प्रयास करता है परन्तु अंत :ज्ञान उसे समाज में अन्य लोगों के प्रति जिम्मेदारी के बारे में बताता है जिसे वह नैतिकता के नाम से जानता है। नैतिकता और मनुष्य के सर्वजेता की इच्छा का अन्तर्द्वन्द्व ही मनुष्य के सामाजिक व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करता है। न्याय इन दोनों अन्तर्विरोधी बलों में सामंजस्य बिठाने का नाम है, यह मनुष्य की स्वार्थपरता एवं उसके सामाजिक उत्तरदायित्वों का सामंजस्य है। सामाजिक न्याय मनुष्य के अधिकार एवं कर्तव्य, उसकी स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व का संतुलन है तथा इस संतुलन को लागू करने के लिए समाज ने राज्य की स्थापना की और राज्य को यह अधिकार दिए कि वह इनको लागू करे। सामाजिक न्याय अवधारणा का अभिप्राय यह है कि नागरिकों के बीच सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी प्रकार का भेद न माना जाए और प्रत्येक व्यक्ति को विकास के पूर्ण अवसर सुलभ हों। सामाजिक न्याय की धारणा में एक निष्कर्ष यह निहित है कि व्यक्ति का किसी भी रुप में शोषण न हो और उसके व्यक्तित्व को एक पवित्र सामाजिक न्याय की सिद्धि के लिए माना जाए मात्र साधन के लिए नहीं ।

सामाजिक न्याय की व्यवस्था में सुधार और सुसंस्कृत जीवन के लिए आवश्यक परिस्थितियों का भाव निहित है और इस संदर्भ में समाज की राजनीतिक सत्ता से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने विद्यार्थी तथा कार्यकारी कार्यक्रमों द्वारा क्षमतायुक्त समाज की स्थापना करें ।

सामाजिक न्याय की मांग है कि समाज के सुविधाहीन वर्गों को अपनी सामाजिक- आर्थिक असमर्थताओं पर काबू पाने और अपने जीवन स्तर में सुधार करने के योग्य बनाया जाए, समाज के गरीबी के स्तर से नीचे के सर्वाधिक सुविधावंचित वर्गों विशेषरूप से निर्धनों के बच्चों, महिलाओं और नि:शक्त व्यक्तियों की सहायता की जाए और इस प्रकार शोषणविहीन समाज की स्थापना की जाए।

समाज के दूर्बल वर्गो को ऊंचा उठाए बिना, हरिजनों पर अत्याचार को रोके बिना, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गो का विकास किए बिना सामाजिक न्याय की स्थापना नहीं हो सकती। सामाजिक न्याय का अभिप्राय है कि मनुष्यों के बीच सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी प्रकार का भेद न माना जाए, प्रत्येक व्यक्तियों को अपनी शक्तियों के समुचित विकास के समान अवसर उपलब्ध हों, किसी भी व्यक्ति का किसी भी रुप मे शोषण न हो, समाज के प्रत्येक व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकताएं पूरी हों, आर्थिक सत्ता चन्द हाथों में केन्द्रित न हो, समाज का कमजोर वर्ग अपने को असहाय महसूस न करे। मार्क्सवादियों के अनुसार, न्याय का यह सिद्धान्त कार्ल मार्क्स के चिन्तन में सर्वत्र विखरा पड़ा है। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवादी समाज में बुर्जुआ स्वामित्व और शोषण को समाप्त कर दिया गया है, उसमें यह माना जाता है कि वह वितरण न्यायपूर्ण है जिसमें प्रत्येरक को सामाजिक उत्पाद में दिए गए श्रम के योगदान के अनुसार अपना हिस्सा प्राप्त हो। सामाजिक न्याय की अवधारणा ने आधुनिक युग में लोगों में जागृति उत्पन्न करने में प्रभावी भूमिका का निर्वहन किया। भारत में महात्मा गांधी और भीमराव अम्बेडकर के विचारों में सामाजिक न्याय की मांग पर जोर दिया गया। महात्मा गांधी तो सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए आजीवन संघर्ष करते रहे ।

### 2.7.2 नैतिकता और शिक्षा

नैतिकता शब्द । अपने अन्दर मानव जीवन के दैनिक दिनचर्या से लेकर प्रत्येक कार्य क्षेत्र, सार्वजनिक जीवन, अध्यात्मी, शिक्षा अथवा मनोरंजन के साधन इत्यादि सभी आयामों को समाहित व पथ प्रदर्शित करता है। इसी नैतिकता के मानदण्डय व मूल्य प्रत्येक समाज स्थापित करता है। इस मूल्य स्थापना की प्रक्रिया की शुरूआत हुई, जब से मानव समाज की स्थापना हुई और मनुष्य एक सामाजिक प्राणी के रूप में लोगों के साथ रहने लगा। जब मानव प्रजाति साथ रहने लगी, तब उसने ऐसे मानक व्यवहार की अपेक्षा की, जो कि मिली-जुली आशाओं, सांस्कृतिक स्वीकृति और उपयुक्त की कसौटी पर खरा उतरे। यही मानक व्यवहार सामाजीकरण की प्रक्रिया से प्रसारित होते हैं। इस व्यवहार पर सामाजिक नियंत्रण रहता है व कुछ पर न्यायसंगत-कानूनी नियंत्रण भी लागू होता है। जब यह मानकीकृत व्यवहार किसी समाज के आवश्यक तत्वो- को परिलक्षित करते हुऐ उस समाज का मूल्य बन जाता है, तब वह निर्णायक बन जाता है उक्तग समाज की नैतिकता व नैतिक व्यवहार को स्थापित करने में।

नैतिकता मानव समाज से अपेक्षित, सही व गलत, आदर्श, व्यवहार, आचार-विचार की मानदण्ड होती है। हर धर्म, पंथ, संप्रदाय परिवार या समाज की अपनी एक सोचने समझने की जटिल प्रणाली होती है। नैतिकता हमेशा उस समाज में एक अनकही प्रणाली के रूप में स्थापित होती है जिसका पालन हर सदस्य करता है। यही नैतिक मूल्य

जैसे सामाजिक व व्यक्तिगत जीवन के हर आयामों में परिलक्षित होते है जैसे कि धार्मिक मान्यताओं में, अभिवृत्तियों में, जीवन दर्शन में, राजनीतिक विचारधाराओं में इत्यादि, इसी तरह उन्हें शिक्षा क्षेत्र में भी देखा जा सकता है।

कोठारी कमिशन ने कहा था कि – विज्ञान के फैलते हुआ क्षेत्र, ज्ञान व शक्ति ने मानव समाज को उसके नियंत्रण मे ला दिया है, अत: व्यक्ति को सामाजिक उत्तरदायित्व के साथ नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों के लिए खुद को अभिप्रेरित रखना चाहिए। डा. एम.टी. रामजी ने अपनी पुस्तक "वैल्युण ओरिएन्टिड स्कूयल एजुकेशन" में कुछ मूल्य बताऐं है जिन्हें हर विद्यालय में किसी तरह से अपने पाठ्यक्रम में सम्मिलित करना चाहिए। वे हैं –

- सत्य ।
- साहस।
- सार्वभौमिक प्रेम।
- सर्वधर्म समभाव।
- कार्य की मर्यादा।
- सेवा।
- सौजन्यता।
- शांति व मैत्री।
- शुचिता।

शिक्षा के क्षेत्र मे नैतिकता के विकास के लिए निम्नलिखित गतिविधियाँ विद्यालय में करवाई जा सकती हैं

- प्रार्थना सभा।
- स्वास्थ्य जागरूकता।
- सफाई व स्वच्छता पर क्रियाकलाप।
- (एस.यू.पी.डब्लू. समाजोपयोगी उत्पादक कार्य)
- नागरिकता आधारित कार्यक्रम।
- समुदाय से जुड़े कार्यक्रम जैसे राष्ट्रीय सेवा योजना के कार्यक्रमों को क्रियान्वित करवाना।
- समाज सेवा के कार्यक्रम सम्पादित व संचालित करवाना।
- सांस्कृतिक व मनोरंजन कार्यक्रम आयोजित करना।
- सुव्यवस्थित अध्यापन अधिगम व्यवस्था व वातावरण स्थापित करना।
- सर्वधर्म समभाव, विश्व शांति व मैत्री पर आधारित गतिविधियों का होना इत्यादि।

### 2.7.2.1 नैतिकता व शिक्षा में महत्वपूर्ण भूमिकाएं

नैतिकता के प्रति उन्मुखीकरण में शिक्षक की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है, जो वान्छित व्यवहार छात्र में अपेक्षित है वह यदि शिक्षक में ना हो तब शिक्षण प्रक्रिया अनुत्पादक हो जाती है। शिक्षक चाहे अपनी आदर्शवादी संकल्पना में एक कुम्हार के जैसे विद्यार्थी के व्याक्तित्व व जीवन को संवारता है अथवा क्रियावादी संकल्पना में अधिकगम प्रक्रिया के तहत छात्र की क्षमताओं को बाहर खींच कर लाता हो, हर रूप में अधिगम प्रक्रिया की एक धूरी शिक्षक ही है। अत: नैतिकता यदि व्यवहार में लानी है तब शिक्षक की भूमिका अहम हो जाती है।

विद्यालय का संगठन, उसका ध्येय वाक्य, विद्यालय का सामाजिक उत्तरदायित्व, विद्यालय के प्रबंधन के नियम, कायदे इत्यादि का संस्था के सभी आयामों पर स्वीत: ही प्रभाव रहता हैं। अत: विद्यालय के प्रबंधन, प्रशासन, नीति नियमों मे सुदृढ़ता, कल्याण व नैतिकता का पुट रहे तो विद्यालय के सभी सहभागी चाहे वह अध्यापक हो या विद्यार्थी उसके सकारात्मक प्रभाव व उर्जा का लाभ लेते है। विद्यालय सामाजीकरण का महत्वपूर्ण संस्थान होने के कारण अपने नियम व प्रबंधन द्वारा नैतिकता की शिक्षा प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों रूप में प्रदान करतें हैं।

शिक्षा में नैतिकता का स्थान केवल नैतिक विज्ञान, कक्षाओं व मूल्यण चिंतन पर समाप्त नहीं होती हैं। नैतिकता के विविध आयामों को विद्यालय में पढ़ाऐं जाने वाले हर विषय भी समाहित करते है। चाहे विज्ञान विषय हो या वाणिज्य, चाहे भाषा हो या कला हर विषय के हर क्षेत्र में नैतिकता से बर्ताव व व्यवहार के मानदण्ड होते हैं। नैतिकता को केवल दैनिक सभा व सप्ता के एक कालखण्ड से आगे विद्यालयीन विषयों के अर्न्तगत भी स्थान देने से नैतिकता का शैक्षिक क्षेत्र में उचित विकास होगा।

**अपनी प्रगति जाँच लीजिये:**

1) शिक्षा के क्षेत्र के द्वारा नैतिकता का विकास किस प्रकार संभव है।

2) सामाजिक न्याय की अवधारणा समझाइये।

## 2.8 राष्ट्रीयता

आधुनिक समय में राष्ट्र का अर्थ ऐसे व्यक्तियों के समूह से लिया जाता है, जो एक राज्य में रहते है। इसी आधार पर राज्य के द्वारा व्यक्ति को कुछ अधिकार प्रदान किए गए है। इसके साथ ही राज्य के प्रति व्यक्ति के कुछ कर्तव्य हो जाते हैं। इस प्रकार एक जाति को एक विशेष भौगोलिक सीमा में राष्ट्र के भीतर अपने अधिकारों की रक्षा के लिए और बाहरी आक्रमण से अपनी स्वतंत्रता एवं सुरक्षा के लिए एकत्रित रखने वाली भावना को राष्ट्रवाद कहा जाता है। राष्ट्रीयता वह प्रवृत्ति है, जो जीवन के मूल्यों के तारतम्य में राष्ट्रीय व्यक्तित्व को एक उच्च स्थान प्रदान करती है।

हन्स कोहन ने राष्ट्रवाद को एक 'मानसिक वृत्ति' के रूप में परिभाषित किया है।' लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने राष्ट्र को धर्म से उच्च स्थान दिया है। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के अनुसार राष्ट्रवाद एक मनोदशा है, जिसमें मनुष्य अपने राष्ट्रीय राज्य के प्रति उच्चतम भक्ति का अनुभव करता है। राष्ट्रवाद का प्रारंभिक स्वरूप पश्चिमी संदर्भ में मात्र राजनीतिक रहा है लेकिन भारतीय संदर्भ में इसका बहुआयमी विकास हुआ है। परम्परागत रूप से भी भारत की सांस्कृतिक धरोहर उसे राजनीतिक की अपेक्षा सांस्कृतिक एकात्मकता का स्वरूप प्रदान करती रहती है।

राष्ट्रवाद में एकात्मकता की भावना अनिवार्य है, किन्तु यह भावना राष्ट्रीयता के प्रति होती है, कोई प्रत्यक्ष स्वरूप नहीं होता। इसमें समान उद्देश्य, के लिए कार्य करने की अच्छी इच्छा शक्ति का होना आवश्यक है। आधुनिक

राष्ट्र राज्यों के ऐतिहासिक सर्वेक्षण से सर्वविदित है कि भाषायी, भौगोलिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक एकता राष्ट्रवाद को प्रेरित करती है। भारत के संदर्भ में अंग्रेजों की यह मान्यता रही है कि उनके आने से पूर्व भारत में एकता की भावना या राष्ट्रीयता की भावना का अभाव था। लेकिन यह मान्यता सही नहीं है क्योंकि भारतीयों में सांस्कृतिक एकता सदियों से विरासत में मिली है। महात्मा गांधी ने राष्ट्रवाद को नवीन परिप्रेक्ष्य में भारत की आजादी के लिए अपना कार्यक्षेत्र बनाया। वे संकीर्ण राष्ट्रवाद के खिलाफ थे, किन्तु उदार राष्ट्रवाद की आवश्यकताएं वे स्वीकारते थे। गांधी के राष्ट्रवाद के चिन्तन में अपने राष्ट्र को किसी अन्य राष्ट्र से हेय दृष्टि से देखना अनुचित था । उनका मत था कि राष्ट्र व्यक्ति से बढ़कर है। व्यक्ति की पहचान राष्ट्र से होती है न कि राष्ट्र की पहचान व्यक्ति से होती है। उनका यह भी मानना था कि कोई अन्य राष्ट्र भी उनके देश के प्रति हेय दृष्टि न रखे। वे राष्ट्र के लिए अपना सब कुछ न्यौछावर करने के लिए तैयार थे। उनका राष्ट्रवाद, अंतरराष्ट्रीय सद्भाव से प्रेरित था।

राष्ट्रवाद व्यक्तियों के समूह की उस आस्था व अवस्था, का नाम है जिसके तहत वे ख़ुद को साझा इतिहास, परम्परा, भाषा, जातीयता और संस्कृति के आधार पर एकजुट मानते हैं। इन्हीं बंधनों के कारण वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्हें आत्म- निर्णय के आधार पर अपने सम्प्रभु राजनीतिक समुदाय अर्थात 'राष्ट्र' की स्थापना करने का आधार है। राष्ट्रवाद के आधार पर बना राष्ट्र उस समय तक कल्पनाओं में ही रहता है जब तक उसे एक राष्ट्र-राज्य का रूप नहीं दे दिया जाता। हालांकि दुनियां में ऐसा कोई राष्ट्र नहीं है जो इन कसौटियों पर पूरी तरह से फिट बैठता हो, इसके बावजूद अगर विश्व की एटलस उठा कर देखी जाए तो धरती की एक-एक इंच ज़मीन राष्ट्रों की सीमाओं के बीच बँटी हुई मिलेगी। राष्ट्रवाद का उदय अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के यूरोप में हुआ था, लेकिन अपने सिर्फ़ दो-ढाई सौ साल पुराने ज्ञात इतिहास के बाद भी यह विचार बेहद शक्तिशाली और टिकाऊ साबित हुआ है। राष्ट्रीय सीमाओं के भीतर रहने वाले लोगों को अपने-अपने राष्ट्र का अस्तित्व स्वाभाविक, प्राचीन, चिरंतन और स्थिर लगता है। इस विचार की ताकत का अंदाज़ा इस हकीकत से भी लगाया जा सकता है कि इसके आधार पर बने राष्ट्रीय समुदाय, वर्गीय, जातिगत और धार्मिक विभाजनों को भी लाँघ जाते हैं। राष्ट्रवाद के आधार पर बने कार्यक्रम और राजनीतिक परियोजना के हिसाब से जब किसी राष्ट्र-राज्य की स्थापना हो जाती है तो उसकी सीमाओं में रहने वालों से अपेक्षा की जाती है कि वे अपनी विभिन्न अस्मिताओं के ऊपर राष्ट्र के प्रति निष्ठा को ही अहमियत देंगे। वे राष्ट्र के कानून का पालन करेंगे और उसकी आंतरिक और बाह्य सुरक्षा के लिए अपने प्राणों का बलिदान भी दे देंगे। यहाँ यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि आपस में कई समानताएँ होने के बावजूद राष्ट्रवाद और देशभक्ति में अंतर है। राष्ट्रवाद अनिवार्य तौर पर किसी न किसी कार्यक्रम और परियोजना का वाहक होता है, जबकि देशभक्ति की भावना ऐसी किसी शर्त की मोहताज नहीं है।

सत्तर के दशक में होरेस बी. डेविस ने मार्क्सवादी तर्कों का सार-संकलन करते हुए राष्ट्रवाद के एक रूप को ज्ञानोदय से जोड़ कर बुद्धिसंगत करार दिया और दूसरे रूप को संस्कृति और परम्परा से जोड़ कर भावनात्मक बताया। लेकिन, डेविस ने भी राष्ट्रवाद को एक औज़ार से ज़्यादा अहमियत नहीं दी और कहा कि हथौड़े से हत्या भी की जा सकती है और निर्माण भी। राष्ट्रवाद के ज़रिये जब उत्पड़ित समुदाय अपनी आज़ादी के लिए संघर्ष करते हैं तो वह एक सकारात्मक नैतिक शक्ति बन जाता है और जब राष्ट्र के नाम पर आक्रमण की कार्रवाई की जाती है तो उसका नैतिक बचाव नहीं किया जा सकता। राष्ट्रवाद की सभी मार्क्सवादी व्याख्याओं में सर्वाधिक चमकदार थियरी बेनेडिक्ट ऐंडरसन द्वारा प्रतिपादित 'कल्पित समुदाय' (इमैजिन्ड कम्युनिटीज़) की मानी जाती है। ऐंडरसन का मुख्य

सरोकार यह है कि एक-दूसरे से कभी न मिलने वाले और एक-दूसरे से पूरी तरह अपरिचित लोग राष्ट्रीय एकता में किस तरह बँधे रहते हैं।

भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने राष्ट्रवाद को ज़बरदस्त चुनौती दी है । बीसवीं सदी के आख़िरी दो दशकों और इक्कीसवीं सदी के पहले दशक के बाद कहा जा सकता है कि कम से कम दुनिया का प्रबुद्ध वर्ग एक सी भाषा बोलता है, एक सी यात्राएँ करता है, एक सा ख़ाना खाता है। उसके लिए राष्ट्रीय सीमाओं के कोई ख़ास मायने नहीं रह गये हैं। इसके अलावा आर्थिक भूमण्डलीकरण, बड़े पैमाने पर होने वाली लोगों की आवाजाही, इंटरनेट और मोबाइल फ़ोन जैसी प्रौद्योगिकीय प्रगति ने दुनिया में फ़ासलों को बहुत कम कर दिया है। ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है जो अपने देश और सांस्कृतिक माहौल से दूर काम और जीवन की सार्थकता की तलाश में जाना चाहते हैं। यूरोप की धरती ने राष्ट्रवाद को जन्म दिया था और वहीं अब यूरोपीय संघ का उदय राष्ट्रवाद का महत्त्व कम कर रहा है । इस नयी परिस्थिति में कुछ विद्वान कहने लगे हैं कि जिन ताकतों ने कभी राष्ट्रवाद को मज़बूत किया था, वे ही उसके पतन का कारण बनने वाली हैं। राष्ट्रीय संरचनाओं के बजाय राष्ट्रों से परे जाने वाले आर्थिक और राजनीतिक गठजोड़ आने वाली सदियों पर हावी रहेंगे।

साम्राज्यवाद के युग में उपनिवेशों में धार्मिक एवं भाषाई विविधता के बावजूद सर्वोच्च सत्ता की स्थापना बलपूर्वक सम्भव थी। स्वाधीनता के बाद राज्य की सत्ता को बलपूर्वक थोपना सम्भव नहीं रहा है। इसी कारण आधुनिक राज्य में राष्ट्रवाद की बुनियाद किसी धर्म विशेष या जाति अथवा भाषा पर नहीं रखी जा सकी। कुल मिलाकर राष्ट्र राज्य के नागरिक यह बात स्वीकार करते हैं कि उनके सामूहिक हित किसी दूसरे राष्ट्र–राज्य के नागरिकों के सामूहिक हितों की तुलना में अधिक साम्यता रखते हैं और इनके संरक्षण के लिए परस्पर सहकार्य जरुरी है ।संयुक्त राष्ट्रसंघ घोषणा पत्र की धारा 14 में यह स्वीकार करता है कि राज्य आपसी सम्बन्धों की सम्प्रभुता के सिद्धान्त और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार संचालित करेंगे। राष्ट्र–राज्य की अवधारणा में यह अन्तर्निहित है कि राज्य की पहचान के साथ राष्ट्रीयता का तत्व अभिन्न रूप से जुड़ा रहेगा।

आधुनिक राज्य एक सम्प्रभु और स्वाधीन इकाई है, यह समझा जाता था और सम्प्रभुता शासक में ही मूर्तिमान, प्रत्यक्ष देखी जाती रही है। सम्प्रभुता के आधुनिक सिद्धान्त के जनक ज्यां बोदां का मानना है कि सम्प्रभुता का अर्थ प्रजा तथा नागरिकों के ऊपर ऐसी सर्वोच्च नियन्त्रण शक्ति से है, जिसे कोई भी सीमित नहीं करता । इसी तरह विधिवेत्ता ओपनहाइम का कहना है कि प्रभुसत्ता किसी भी अन्य सत्ता के नियन्त्रण से मुक्त स्वाधीन शक्ति है। यह बात सर्वविदित है कि ऐसी सत्ता का स्वामी राज्य ही हो सकता है, कोई एक व्यक्ति नहीं। हॉब्स ने ऐसे ही राज्य को लेवियान की संज्ञा दी है।

**उद्देश्य -**

- राष्ट्र गौरव की भावना को जाग्रत करना।
- राष्ट्र के इतिहास और संस्कृति का अन्वेषण करना।
- जनता में राष्ट्रवाद की भावना चित्त में बैठाना।
- देश के नागरिकों में आत्मनिर्भरता व आत्मविश्वास जैसी भावनाओं को प्रोत्साहित करना।

'अनेकता में एकता' भारतीय राष्ट्रवाद की विशेषता है, अलग-अलग भाषा-भाषी, प्रान्तीय विभिन्नता होने के बावजूद उनके तीर्थ, सांस्कृतिक परिवेश, रीति-रिवाज उनमें एकत्व की भावना पैदा करते हैं। गांधी के राष्ट्रवाद का उद्देश्य विश्व

मैत्री है, उन्होंने इसको व्यक्त करते हुए कहा कि 'मेरा लक्ष्य विश्व मैत्री है ।, हम विश्वबन्धुत्व के लिए जीना और मरना चाहते हैं, मानवता की सेवा के लिए भारत को जीना सीखना होगा ।' गांधी के अनुसार 'मैं अपने देश की स्वतंत्रता इसलिए चाहता हूँ कि अन्य राष्ट्र मेरे राष्ट्र से कुछ सीखें तथा मेरी राष्ट्रीयता अन्तर-राष्ट्रीयता है । यदि आवश्यकता पड़े तो सारे देश मर जाएं ताकि मानवता जीवित रह सके । एक व्यक्ति के राष्ट्रवादी हुए बिना अंतर-राष्ट्रवादी होना असंभव है ।' राष्ट्रवाद कोई बुराई नहीं है, बुराई तो संकीर्णता, स्वार्थ और एकाकीपन की भावनाएं हैं, जिनसे आज राष्ट्र ग्रसित है ।

**अपनी प्रगति जाँच लीजिये :**

1) भारतीय राष्ट्रीयता के विलक्षित गुण बताइये ।

2) राष्ट्रवाद क्या है?

## 2.9 वैश्विकता एवं धर्म निरपेक्षता का शिक्षा से अन्तर्सम्बन्ध - टैगोर एवं कृष्णमूर्ति के सन्दर्भ में

### 2.9.1 टैगोर के संदर्भ में :

गुरूदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर का जन्म 1861मे कलकत्ता के उस समृद्ध परिवार में हुआ था जिसने बंगाल की नवजागृति में अनुपम योगदान दिया है । उनका परिवार अनेक सांस्कृतिक व राजनैतिक सदस्यों व भारतीय प्रबुद्ध नागरिकों की गतिविधि का केन्द्रत था । उनके उपर उनके परिवार के अलावा अनेक पाश्चात्य शिक्षा शास्त्रियों के विचार का भी प्रभाव पड़ा है । इन शिक्षण शास्त्रियों में रूसों, फ्रोबेल, पेस्टालॉजी और डीवी का नाम विशेष रूप से लिए जा सकते है । रवीन्द्र नाथ टैगोर ने अपने बाल्यकाल से ही राजा राममोहन राय के ब्रह्मसमाज आन्दोलन, बंकिम चन्द्र चटर्जी के बांग्ला साहित्य और पाश्चात्य समाज प्रभाव मे पली नव संपन्न बंगाली पीढ़ी द्वारा प्राचीन मूल्यों को प्रश्नों के घेरे मे लाने का दृष्टिकोण आदि का अनुभव किया था । उनका अपना दृष्टिकोण प्राचीन व पौर्वात्य का सम्मिश्रण था ।

रवीन्द्र नाथ ने 1901 में शान्तिनिकेतन में ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना की । उनके आश्रम ने इसाई तथा अंग्रजी अध्यापकों की नियुक्ति कर परम्परवादी विचारों को चुनौती दी व अनेक कठिनाइयों के बावजूद इस आश्रम को विश्व व्यापी दृष्टिकोण से सफलतापूर्वक चलाया । आगे जा कर यह विश्वीभारती में रूपांतरित हो गया और इसका अन्तर्राष्ट्रीय महत्व स्वीकार किया जाने लगा ।

वे वैचारिक दृष्टि से अद्वैतवादी थे तथा मानवीय एकता तथा विश्वाकल्याण उनके अभीष्ट । प्रकृति तथा मानव को एकलय करना उनका उद्देश्य था । हिंसा से दूर मानव प्रेम पर समस्त सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक विचारों को उन्होंने अपने दर्शन में स्थान दिया । वे हमेशा भारत के भविष्य के प्रति बहुत आशाजनक थे व विभिन्नता में एकता स्थापित करने की भारत की विशेषता से अधिक प्रभावित थे । समस्त धर्मों जातियों एवं रंगों के व्यक्तियों का एकीकरण एवं मातृत्व उनका भावी सपना था । भारत की सहिष्णुनता, धर्मप्रियता तथा विदेशी तत्वों को आत्मसात करने की अनूठी शक्ति ने उन्हें भारत की महानता व उसकी भावी भूमिका का ज्ञान करवाया ।

गुरूदेव रवीन्द्र नाथ नैतिक शक्ति तथा सत्य के आधार पर अपनी बात सिद्ध करना पसन्द करते थे। देश मे चल रहे स्वतंत्रता आन्दोलन में आए हर उग्र प्रदर्शन की उन्होंने भटर्सना की व जलियांवाला बाग काण्डे के विरोध में ब्रिटिश सरकार को 'सर' की उपाधि वापस की।

रवीन्द्र नाथ जी का विश्व के अनेक देशों से गहरा रिश्तार था। उन्होंने जीवन अपने काल में अनेक देशों जैसे इटली, सोवियत संघ, फ्रांस व अमेरिका की अनेकों यात्राएं की। उन्होंने फासीवाद व नाज़ियों का प्रबलतम विरोध कियाव जापान में साम्राज्य वाद की तीव्र भर्त्सना की। रवीन्द्र नाथ जी ने अपने लेखों में अफ्रीका के नीग्रो प्रजाति के प्रति संवेदना प्रकट की। उन्होंने अफ्रीका को पूर्व का शिशु माना। वे एशिया तथा अफ्रीका के भावी मधुर सम्बन्धों का स्वप्न संजोये हुए थे। पश्चिमी देशों द्वारा अफ्रीका पर अधिपत्यथ स्थापित करने के विरूद्ध में उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से भी रोष प्रकट किया है।

अपनी विदेश यात्रा में रवीन्द्रनाथ तथा आईन्सटीन में एक बार पारस्परिक वार्तालाप भी हुआ। वार्तालाप यथार्थ की प्रकृति पर केन्द्रित हुआ तब रवीन्द्रनाथ ने मानवीय जगत की अपनी अवधारणा प्रस्तुत की। उन्होंने कहा कि पदार्थ का निर्माण प्रोटोन्सन तथा इलेक्ट्रोन्सश से हुआ है। इन दोनो के मध्यन रिक्तता है किन्तुं पदार्थ ठोस दिखता है। इस प्रकार मानवता व्यक्तियों द्वारा निर्मित है फिर भी मानवीय सम्बन्धों में परस्पर अन्त सम्बन्ध है जो कि मानव-विश्व को जीवन्ता दृढ़ता प्रदान करता है। सारा ब्रह्माण्डद भी इसी तरह हमसें जुड़ा हुआ है, यह मानवीय ब्रह्माण्ड है। सापेक्षवादी गणितज्ञ ने गुरूदेव की यह कवितामय विचारधारा मन्त्र मुग्ध हो कर सुनी। गुरूदेव ने कहा कि वे यह सिद्धान्त कला, साहित्य तथा मानव की धार्मिक चेतना के माध्यम से फलीभूत कर रहे हैं।

1940 मे ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने शांति निकेतन में रवीन्द्रनाथ को 'डॉक्ट्र ऑफ लेटर्स' की उपाधि से सम्मानित किया। उस समारोह मे लैटिन भाषा में उनकी प्रशस्त पढ़ी गई जिसका जवाब रवीन्द्र नाथ ने संस्कृत में दिया था। उन्होंने संस्कृत मे कहा विश्व उस समय संघर्ष में है व विज्ञान ने उसकी विभीषिका को तीव्र कर दिया है, परन्तु हिंसा कितनी भी भयावह क्यों ना हो एक दिन समाप्त निश्चित रूप से होती है। और इस हिंसा की समाप्ति पर मानव सभ्यता पुन:लक्ष्या विकास की ओर प्रवृत होगी। उनके यह आशावादी विचार व लैटिन एवं संस्कृत का यह वार्तालाप पूर्व पश्चिम एकता, विश्व बंधुत्व व वैश्विक शांति व विकासोन्मुखी विचारधारा इंगित करता है।

उन्होंने भारत की विभिन्न धार्मिक ईकाई में सामंजस्य एवं मेल जोल बढ़ाने का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने मुखर होकर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि वे भारत में अल्पसंख्याकों को देश की मुख्यधरा में एकीकृत करना चाहते थे। साम्प्रुदायिकता के वे कट्टर विरोधी थे व बंगाल विभाजन के समय उठे साम्प्रदायिक हिंसा का उन्होंने डटकर विरोध किया था। उनका कहना था कि पारस्परिक वैमनस्य का कारण हमेशा धर्म नहीं बल्कि धर्म से जुड़े रीति-रिवाज़ होते है। धार्मिक प्रवृत्ति तो संप्रदायों को मिला कर रखती है। वे भारत में सामाजिक व सांस्कृतिक आदान-प्रदान एवं समन्वय का ऐसा वातावरण चाहते थे जिससे जातीय एवं धार्मिक वैमनस्य कम हो सके तथा साम्प्रदायिकता का अन्त हो सके।

## 2.9.2 जे. कृष्णामूर्ति के संदर्भ में

जे. कृष्णामूर्ति ने न तो किसी नये दार्शनिक सम्प्रदाय को प्रतिपादित किया है, न ही किसी पूर्व स्थापित दार्शनिक विचारधारा की व्याख्या की है और न ही किसी विचारधारा का खण्डन किया है। वस्तुतः जे. कृष्णामूर्ति किसी भी तरह के वाद से पूरी तरह से दूर थे। फिर भी मनुष्य जीवन के प्रति उनका जो एक अलग दृष्टिकोण था उसी को इनका दार्शनिक चिन्तन कहते हैं।

यद्यपि वे ईश्वर में भी विश्वास करते थे परन्तु इनका ईश्वर विभिन्न धर्मों के द्वारा बताया गया ईश्वर नहीं था। इनकी दृष्टि में प्राणी मात्र से प्रेम ही ईश्वर है। ये किसी पूर्व निश्चित सत्य में भी विश्वास नहीं करते थे। इनकी दृष्टि से सत्य मार्गविहीन भूमि है तथा व्यक्ति किसी संगठन, पुजारी या कर्मकाण्ड के द्वारा सत्य तक नहीं पहुंच सकता है। इसके लिए संबंधों के दर्पण तथा अपने स्वयं के मस्तिष्क अवलोकन व विश्लेषण की जरूरत होती है। उनका कहना था कि सत्य वह नहीं है 'जो है' वरन् सत्य वह है जो 'जो है' की समझ उत्पन्न करता है। मनुष्य का क्रोध, क्रूरता, हिंसावृत्ति, निराशा, वेदना तथा दुख की समझ ही सत्य है। इनकी दृष्टि से मनुष्य जीवन अपने आप में एक असाधारण साक्षरता है। वे मनुष्य जीवन का अर्थ बिना किसी निराशा, कष्ट तथा झंझट के स्नेह जीवनयापन करना मानते थे। ये कर्म के सिद्धांत में भी विश्वास नहीं करते थे। उनका मानना था कि कर्म का सिद्धांत व्यक्ति को अनावश्यक सीमा में बांधता है। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी प्रकार की सीमाओं के बंधन से दूर रहकर अपनी चेतना के आधार पर अपने कार्य करने चाहिए। व्यक्ति का अनोखापन कृत्रिम न होकर चेतन बातों से उसकी स्वतंत्रता में निहित रहता है। वे विचारों की उत्पत्ति अनुभव व ज्ञान से जोड़कर उसे समय सापेक्ष मानते थे।

जे. कृष्णामूर्ति के ज्ञान को तीन भागों - वैज्ञानिकता, सामूहिक तथा वैयक्तिक में विभक्त किया गया था । उनके अनुसार वैज्ञानिक ज्ञान तथ्यों के विश्लेषण पर आधारित होता है, सामूहिक ज्ञान मनुष्य के प्रकृति के प्रति संबंधों से संबंधित होता है एवं वैयक्तिक ज्ञान मनुष्य के अन्तःकरण से संबंधित होता है। उनकी दृष्टि से किसी भी प्रकार का ज्ञान बुद्धि से प्राप्त होता है एवं बुद्धि के निष्पक्ष होने पर ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। वे वास्तविक ज्ञान को आंतरकि सत्ता का प्रतीक व जीवन का मार्गदर्शक मानते थे एवं उनकी मान्यता थी कि इसे चेतना द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

जे. कृष्णामूर्ति ने देखा कि मनुष्य भौतिक दृष्टि से साधन सम्पन्न होने के बावजूद भी दु:खी हैं एवं तृष्णा, प्रतिस्पर्धा, द्वेष व हिंसा के बोझ से दबा जा रहा है। उसका धर्म के नाम पर भी शोषण किया जा रहा है । उन्होंने मानवमात्र से बाह्य विकास के साथ-साथ आंतरिक विकास करने की अपेक्षा की एवं तड़क-भड़क के स्थान पर सादगी, तृष्णा के स्थान पर संतुष्टि तथा द्वेष के स्थान पर प्राणीमात्र के प्रति प्रेम विकसित करने का आग्रह किया। वे एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे जिसमें जाति, धर्म, समाज, संस्कृति व द्वेष आदि किसी भी आधार पर व्यक्तियों का विभाजन नहीं होना चाहिए, वरन् प्रेम के आधार पर सभी मनुष्य एक दूसरे से स्नेह सूत्र से जुड़े होने चाहिए। इसके लिए उन्होंने मनुष्यों को सादगी तथा प्रेम का उपदेश दिया । वे प्रेम को ऐसा अस्त्र मानते थे जो मनुष्यों के बीच के जाति, धर्म, संस्कृति व क्षेत्र आदि के कृत्रिम बंधनों को काट सकता है। उन्होंने जीवन की वास्तविक कटु सत्यता का सामना करने के लिए मनुष्य को व्यवसायों व रोजगार को करने की सलाह दी एवं व्यवसायों की उन्नति के लिए विज्ञान व तकनीकी के ज्ञान व उपयोग का परामर्श दिया परन्तु वे वैज्ञानिक सिद्धांत व तकनीकी के उपयोग को मानव कल्याण का साधन मानते थे, साध्य कदापि नहीं स्वीकार करते थे।

उन्होंने सम्पूर्ण मानव का विकास करने को शिक्षा के मूल उद्देश्य माना था। सम्पूर्ण मानव से उनका तात्पर्य ऐसे चेतनायुक्त मानव से है जो जाति, संस्कृति, धर्म व क्षेत्र आदि से संबंधित पूर्वग्रहों व पूर्व धारणाओं से मुक्त हो, जो घृणा व हिंसा जैसी दुर्भावनाओं से मुक्त हो तथा जो प्रेम भावना से युक्त हो। निःसंदेह जीवन का अर्थ व उद्देश्य समझने, वैज्ञानिक बुद्धि व आध्यात्मिकता में सही समन्वय करने, नये मूल्यों व संस्कृति का निर्माण करने तथा मानव मात्र के जीवन को सुखी बनाने के लिए सम्पूर्ण मानव का सम्प्रत्यय अत्यंत महत्वपूर्ण है। जे. कृष्णामूर्ति ने इस मूल समस्या की प्राप्ति के लिए निम्न सहायक उद्देश्यों की प्राप्ति आवश्यक बतायी है -

**1. संवेदनशीलता का विकास-** जे. कृष्णामूर्ति के अनुसार शिक्षा के द्वारा बच्चों को विभिन्न अनुशासनों का ज्ञान कराने के साथ-साथ उन्हें संवेदनशील भी बनाना चाहिए। उनकी दृष्टि में बच्चों में प्रकृति एवं मानव मात्र के प्रति प्रेम उत्पन्न करना ही सच्ची संवेदनशीलता कही जा सकती है। इसमें घृणा, द्वेष, क्रोध, व हिंसा को कोई स्थान नहीं होना चाहिए। जब बालक भय और प्रतिस्पर्धा से मुक्त होंगे तब ही संसार में हिंसा व युद्ध नहीं होंगे।

**2. सृजनात्मकता का विकास -** जे. कृष्णामूर्ति ने सृजनात्मकता को व्यापक रूप में लेते हुए इसका तात्पर्य शरीर, मन, व आत्मा तीनों की सृजनशीलता बतायी। उनके विचार से बालकों पर दूसरों के विचार नहीं थोपे जाने चाहिए वरन् उन्हें स्वयं निर्णय करने व कार्य करने के स्वतंत्र अवसर दिये जाने चाहिए तथा उन्हें पूरी तरह से भयमुक्त वातावरण दिया जाना चाहिए।

**3. वैज्ञानिक बुद्धि का विकास -** वैज्ञानिक बुद्धि से जे. कृष्णामूर्ति का तात्पर्य तथ्यों के वास्तविक स्वरूप को जानने से था। वे विज्ञान व तकनीकी शिक्षा के तनिक भी विरोधी नहीं थे। वरन् वे विज्ञान व तकनीकी का मानव कल्याण के लिए सही ढंग से उपयोग करने के पक्षधर थे। परन्तु वे विज्ञान व तकनीकी का मानव के हितों के विरूद्ध प्रयोग करने के विरोधी थे।

**4. आध्यात्मिकता का विकास -** आध्यात्मिकता के विकास से जे. कृष्णामूर्ति का तात्पर्य किसी धर्म विशेष को मानने, उसकी विचारधारा का प्रचार करने से नहीं था। उनका कहना था कि जिस धर्म का निर्माण मनुष्य ने स्वयं किया है वह उस धर्म का गुलाम बनकर कैसे रह गया है एवं यह एक विडम्बना ही कही जा सकती है, उनका मानना था कि किसी धर्म की गुलामी में व्यक्ति का अपना अस्तित्व संकट में पड़ गया है, आध्यात्मिकता के विकास से जे. कृष्णामूर्ति का तात्पर्य आध्यात्मिक चेतना व आत्म ज्ञान के विकास के रूप में परिलक्षित होता है।

निःसंदेह आत्मज्ञान का सम्प्रत्यय जितना सरल व सहज दिखाई देता है वह उतना सरल व सहज नहीं है। आत्मज्ञान एक व्यापक व जटिल सम्प्रत्यय है तथा इसके लिए व्यक्ति को अपने ही विचारों व कार्यों का निरंतर निरीक्षण करना होता है, उनका लेखा-जोखा रखना होता है तथा उनका विश्लेषण करना होता है जो स्वयं में एक कठिन कार्य है।

**5. वैज्ञानिक ज्ञान व आध्यात्मिकता में समन्वय -** जे. कृष्णामूर्ति का मानना था कि मनुष्यों को वैज्ञानिक ज्ञान व उसकी आध्यात्मिक चेतना, दोनों का लक्ष्य मानव मात्र का कल्याण करना होना चाहिए। अतः विज्ञान व तकनीकी का प्रयोग रचनात्मक कार्यों में किया जाना चाहिए एवं इसके लिए विज्ञान व तकनीकी को आध्यात्मिक चेतना के साथ समन्वय बनाकर मानव कल्याण के लिए कार्य करना चाहिए।

**6. व्यावसायिक प्रशिक्षण -** जे. कृष्णामूर्ति का मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका चलाने के लिए कोई न कोई व्यवसाय अवश्य करना चाहिए। अतः वे शिक्षा के द्वारा भावी नागरिकों को किसी न किसी व्यवसाय में प्रशिक्षित करना अत्यंत आवश्यक समझते थे।

**7. नई संस्कृति का निर्माण -** जे. कृष्णामूर्ति के अनुसार विभिन्न संस्कृतियां व्यक्तियों को संकीर्णता की परिधि में सीमित कर देती है। उनके अनुसार ऐसी संस्कृति एवं मूल्यों की आवश्यकता है जो पूर्वाग्रहों व पूर्वधारणाओं से मुक्त हो एवं मानव मात्र के कल्याण की ओर प्रवृत्त रहे। अतः वे शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य में ऐसी शक्ति व अन्तःचेतना का विकास करना चाहते थे जिससे मनुष्य की चेतना पूर्वाग्रहों के विरूद्ध दृढ़तापूर्वक खड़ा हो सकें तथा नई संस्कृति व मूल्यों का निर्माण करके स्वीकृत मानव का निर्माण कर सके।

**अपनी प्रगति जाँच लीजिये -**

1) गुरुदेव रबिन्द्र नाथ टैगोर के वैश्विक दृष्टिकोण की व्याख्या कीजिये।

2) श्री जे. कृष्णमूर्ति के अनुसार सामाजिक सद्भाव किस प्रकार विकास हो सकता है?

ज्ञान शांति मैत्री

# इकाई – 3 पाठ्यक्रम

**इकाई की संरचना**

**1.0 शिक्षण उद्देश्य**
**1.1 इकाई परिचय**
**1.2 पाठ्यक्रम का अर्थ, परिभाषा, उद्देश्य**
**1.3 पाठ्यक्रम की रूपरेखा**
**1.4 पाठ्यक्रम के निर्माण में सहभागी घटक**
**1.5 पाठ्यक्रम विकास के उपागम**
**1.6 पाठ्यक्रम निर्माण की प्रक्रिया**
**1.7 पाठ्यक्रम मूल्यांकन की प्रक्रियाएँ**
**1.8 पाठ्यक्रम निर्माण में शासन की भूमिका**
**1.9 पाठ्यक्रम निर्माण में सामाजिक घटकों की भूमिका**
**1.10 सारांश**
**1.11 अपनी प्रगति की जाँच के लिए अपेक्षित उत्तदर**
**1.12 संदर्भ पुस्तकें**

## 1.0 शिक्षण उद्देश्य

**1.** इस इकाई का उद्देश्य छात्रों को पाठ्यक्रम के विभिन्न पक्षों की जानकारी देना है।

**2.** छात्रों को पाठ्यक्रम निर्माण की प्रक्रिया तथा इसमें विभिन्न पक्षों की भूमिका से अवगत कराना है।

## 1.1 इकाई परिचय

छात्र विद्यालय में समस्ति शैक्षिक क्रियाओं का अनुभव प्राप्त करता है, जिसमें पाठ्य सहगामी क्रियाएँ भी सम्मिलित होती हैं। इन सभी क्रियाओं के द्वारा वह शिक्षक के संरक्षण में अनुभव प्राप्त करता है। ये समस्त क्रियाएँ शिक्षा के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए विद्यालय में आयोजित की जाती हैं। अत: वह साधन, जिसके द्वारा विद्यालय में शिक्षा के लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है, पाठ्यक्रम कहलाता है।

प्रस्तुत इकाई में पाठ्यक्रम के विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित जानकारी, पाठ्यक्रम निर्माण की प्रक्रिया, इसके निर्माण व विकास में सहभागी घटकों की जानकारी आदि का वर्णन किया गया है।

## 1.2 पाठ्यक्रम का अर्थ, प्रकृति एवं संकल्पना

**पाठ्यक्रम का अर्थ –**

'पाठ्यक्रम' शब्द लैटिन भाषा से लिया गया है, जिसका अर्थ है – दौड़ का मैदान। अर्थात पाठ्यक्रम वह क्रम है, जिसे पार करके व्यक्ति अपने गंतव्यद तक पहुँचता है। यह वह साधन है, जिसके द्वारा शिक्षा के लक्ष्यों तक पहुँचा जाता है। यह अध्ययन का एक निश्चित व तर्कपूर्ण क्रम है, जिसके माध्यम से विद्यार्थी के व्यक्तित्व का विकास

होता है तथा वह नवीन ज्ञान व अनुभव प्राप्त करता है। शिक्षा के विस्तृत अर्थ में पाठ्यक्रम के अंतर्गत वह सभी अनुभव आ जाते हैं, जो विद्यार्थी शिक्षक के सरंक्षण में विद्यालय में प्राप्त करता है। इन अनुभवों के अंतर्गत विभिन्न पाठ्य सहगामी क्रियाएँ भी आ जाती हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पाठ्यक्रम अध्ययन का ही एक क्रम है, जिसके अनुसार चलकर विद्यार्थी अपना विकास करता है। अत: यदि शिक्षा की तुलना दौड़ से की जाए तो पाठ्यक्रम उस दौड़ के मैदान के समान है जिसे पार करके दौड़ने वाला अपने लक्ष्य तक पहुँच जाता है।

**पाठ्यक्रम की परिभाषा –**

पाठ्यक्रम की परिभाषा अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से देने का प्रयास किया है। कुछ प्रमुख परिभाषा यहाँ दी जा रही हैं –

"उच्चतर जीवन के लिए प्रतिदिन और चौबीस घटे की जा रही समस्त क्रियाएँ पाठ्यक्रम के अंदर आ जाती हैं''

- बबिट

"पाठ्यक्रम को किसी विद्यार्थी द्वारा लिए जाने वाले विषयों के रूप में परिभाषित नहीं किया जाना चाहिए। पाठ्यक्रम की कार्यात्मक संकल्प ना के अनुसार इसके अंतर्गत वह सब अनुभव आ जाते हैं जो विद्यालय में शिक्षा के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं।''

- बाल्टलर एस. मनेरा (शब्द कोष)

"पाठ्यक्रम कलाकार (शिक्षक) के हाथ में एक साधन है, जिससे वह अपनी सामग्री (शिक्षार्थी) को अपने आदर्श (उद्देश्य) के अनुसार अपनी चित्रशाला (विद्यालय) में ढाल सके।''

- कनिंघम

"सीखने का विषय या पाठ्यक्रम, पदार्थों, विचारों और सिद्धांतों का चित्रण है जो निरंतर उद्देश्यपूर्ण क्रियान्वषण से साधन के रूप में आ जाते हैं।''

- डी.वी.

माध्यमिक शिक्षा आयोग के अनुसार, "पाठ्यक्रम का अर्थ केवल उन सैद्धांतिक विषयों से नहीं है जो विद्यालयों में परंपरागत रूप से पढ़ाए जाते हैं, बल्कि इसमें अनुभवों की वह संपूर्णता भी सम्मिलित होती है, जिनको विद्यार्थी विद्यालय, कक्षा, पुस्तकालय, प्रयोगशाला, कार्यशाला, खेल के मैदान तथा शिक्षक एवं छात्रों के अनेकों अनौपचारिक संपर्कों से प्राप्त करता है। इस प्रकार विद्यालय का संपूर्ण जीवन पाठ्यक्रम हो जाता हैं जो छात्रों के जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित करता है और उनके संतुलित व्यक्तित्व के विकास में सहायता देता है।''

"पाठ्यक्रम पाठ्यवस्तु का सुव्यवस्थित रूप है जो बालकों की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु तैयार किया जाता है।''

- बेन्टा और क्रोनेनबर्ग

**पाठ्यक्रम और पाठ्यचर्या**

पाठ्यविषयों के सीमित अर्थ में पाठ्यक्रम तथा पाठ्यचर्या को समानार्थी शब्दो के रूप में जाना जाता रहा है। परंतु पाठ्यक्रम के व्यापक दृष्टिकोण के अनुसार इन दोनो में अंतर है। पाठ्यक्रम के अंतर्गत वे सभी अनुभव आ जाते

हैं, जिन्हें छात्र विद्यालयीन जीवन में प्राप्त करता है, इसमें पाठ्य एवं पाठ्येत्तदर क्रियाएँ सम्मिलित हैं। जबकि पाठ्यचर्या में पाठ्यविषयों से संबंधित क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं। इस प्रकार पाठ्यचर्या शिक्षण के लिए तैयार किसी विषय वस्तुं का विवरण है।

एक विद्वान के अनुसार पाठ्यचर्या पूरे शैक्षिक सत्र में विभिन्नि विषयों में शिक्षक द्वारा छात्रों को दिए जाने वाले ज्ञान की मात्रा के विषय में निश्चित जानकारी देता है, जबकि पाठ्यक्रम से यह प्रदर्शित होता है कि शिक्षक किस प्रकार की शैक्षिक क्रियाओं के द्वारा पाठ्यचर्या की आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा । अर्थात् पाठ्यचर्या शिक्षण की विषयवस्तु का निर्धारण करता है तथा पाठ्यक्रम उसे देने के लिए प्रयुक्त विधि का।

पाठ्यचर्या का संबंध ज्ञानात्मक्क पक्ष के विकास से होता है, जबकि पाठ्यक्रम का संबंध बालक के संपूर्ण विकास से होता है । विद्यालय के अंदर शिक्षण क्रियाओं का संबंध ज्ञानात्म क पक्ष से होता है। खेलकूद तथा शारीरिक प्रशिक्षण का संबंध शारीरिक विकास से होता है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास हेतु कार्यक्रमों एवं विशेष पर्वों को मनाने का आयोजन किया जाता है । एन.सी.सी. तथा एनउटिंग आदि के द्वारा नेतृत्वी के गुणों का विकास होता है । इस प्रकार पाठ्यक्रम के अंतर्गत विद्यालय की समस्त क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है तथा इसका स्वरूप व्यापक होता है, जबकि पाठ्यचर्या का स्वरूप सुनिश्चित होता हैं तथा इसके अंतर्गत शिक्षण विषयों के प्रकरणों को ही सम्मिलित किया जाता है।

**पाठ्यक्रम के उद्देश्य**

शिक्षा की प्रक्रिया के तीन प्रमुख तत्व हैं– शिक्षक, विद्यार्थी और पाठ्यक्रम । पाठ्यक्रम से साधारणत: अभिप्राय उन विषयों से है जो शिक्षण संस्थानों में पढ़ाए जाते हैं। परंतु वर्तमान शिक्षा का स्वारूप भिन्नि एवं व्यापक हो गया है । अब पाठ्यक्रम के अंतर्गत विद्यालय का समस्त कार्य विभिन्न विषयों का ज्ञान बढ़ाने के उद्देश्य, शिक्षण विधियाँ, मूल्यांकन विधियाँ आदि सभी आती हैं।

पाठ्यक्रम के निम्नलिखित उद्देश्य होते हैं –

**1. क्या और कैसे का ज्ञान –** विद्यार्थी को क्या और किस प्रकार की शिक्षा दी जाए, यह पाठ्यक्रम से ज्ञात होता है।

**2. बच्चे के व्यक्तित्व–** और चिंतन का विकास – पाठ्यक्रम चिंतनशील मानव को आधार प्रस्तुत कर बुद्धि का विकास करता है। यह विद्यार्थी के प्राकृतिक गुणों तथा शक्तियों का समुचित विकास करने वाला होना चाहिए ।

**3. आदर्श नागरिकों का निर्माण –** पाठ्यक्रम आदर्श नागरिकों के निर्माण में सहायक होना चाहिए। यह रंग-भेद, जातिभेद, लिंग-भेद इत्यादि भेदभाव की भावना से रहित हो।

**4. चारित्रिक विकास –** सत्यभ, सेवा, त्याग, परोपकार, सहयोग, प्रेम आदि मनुष्य के नैसर्गिक गुणों को विकसित करके उन्हीं के अनुसार आचरण कराना पाठ्यक्रम का उद्देश्य होना चाहिए।

**5. बालकों की रुचियों पर आधारित –** पाठ्यक्रम का निर्माण विद्यार्थियों की रुचि को ध्यान में रखकर करना चाहिए।

पाठ्यक्रम में इस बात का समावेश होना चाहिए कि मनुष्या क्याठ जानता है? उसमें साहित्य, विज्ञान, गणित, भूगोल आदि परंपरागत विषय संक्षेप में होना चाहिए।

रॉस के अनुसार, विद्यालयों में उन विषयों अथवा क्रियाओं का प्रबंध होना चाहिए, जिनके द्वारा मनुष्य की भावनाओं की तुष्टि कला, गायन तथा कविता के माध्यम से हो सकें।

**अपनी प्रगति की जाँच कीजिए –**

1. पाठ्यक्रम का अर्थ और परिभाषा बताइए।
2. पाठ्यक्रम के उद्देश्य बताइए।

## 1.3 पाठ्यक्रम की रूपरेखा

पाठ्यक्रम की रूपरेखा का अर्थ पाठ्यक्रम के स्वनरूप से है। किसी आदर्श लक्ष्या की प्राप्ति हेतु पाठ्यक्रम के स्वरूप का निर्धारण या इस कार्य के लिए दिशा निर्देशन की प्रक्रिया के स्वरूप के निर्धारण को पाठ्यक्रम की रूपरेखा में सम्मिलित किया जा सकता है पाठ्यक्रम का स्वरूप शैक्षिक लक्ष्योंर पर आधारित होता है। समय-परिवर्तन एवं सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ शिक्षा के लक्ष्यों में भी परिवर्तन के साथ-साथ शिक्षा के लक्ष्यों में भी परिवर्तन होता रहता है। इसीलिए पाठ्यक्रम के स्वीरूप भी बदलते रहते हैं।

पाठ्यक्रम के स्वरूप को पाठ्यक्रम प्रतिमान भी कहा जाता है। प्रतिमान किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा क्रिया का ऐसा परिकल्पूनात्मक या कार्यात्मक रूप होता है, जिससे उसके वास्तविक स्ववरूप का बोध होता है। शिक्षा के उद्देश्यों, प्रक्रियाओं एवं परिस्थितियों के आधार पर पाठ्यक्रम के अनेक प्रतिमान विकसित किए गए हैं, परंतु पाठ्यक्रम का विकास शिक्षकों व अन्यि संबंधित घटकों के सहयोग से आवश्यत्तानुसार सामान्य, रूप में कर लिया जाता है। इसे पाठ्यक्रम की सामान्यं रूपरेखा या सामान्य प्रतिमान कहा जा सकता है। इस सामान्य रूपरेखा के प्रमुख पद निम्नानुसार हैं –

1. शिक्षकों एवं अन्य संबंधित व्यक्तियों के समूह द्वारा पाठ्यक्रम के क्षेत्र का सर्वेक्षण तथा उपलब्ध साधनों का आकलन।
2. शैक्षिक उद्देश्यों का निर्धारण।
3. उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उपयुक्त पाठ्यवस्तु का चयन एवं निर्माण।
4. विद्यालयों में पाठ्यवस्तु के पूर्व परीक्षण से पहले शिक्षकों द्वारा गोष्ठियों व कार्यशालयों का आयोजन।
5. पाठ्यसामग्री का कुछ विद्यालयों में पूर्व परीक्षण।
6. पाठ्यसामग्री का मूल्यांकन एवं आवश्यक संशोधन।
7. पाठ्यसामग्री का प्रकाशन एवं प्रसार।
8. निर्मित पाठ्यसामग्री (पाठ्यचर्या) का क्रियान्वयन।
9. पाठ्यक्रम का मूल्यांकन एवं आवश्यकतानुसार संशोधन।

**अपनी प्रगति की जाँच कीजिए –**

1. पाठ्यक्रम की रूपरेखा से आप क्या समझते हैं?

## 1.4 पाठ्यक्रम के निर्माण में सहभागी घटक

पाठ्यक्रम के निर्माण अथवा विकास की प्रक्रिया में उन सभी व्याक्तियों संस्थाओं एवं अन्य अनुभवी घटकों की सहभागिता आवश्यक होती है जो किसी न किसी रूप में शिक्षा से संबंधित होते हैं। ऐसे घटकों में शिक्षक, विद्यार्थी, अभिभावक, जनसामान्य, विषय विशेषज्ञ, समाज-शास्त्री , राजनीतिज्ञ मनोवैज्ञानिक, अनुसंधान संगठन आदि प्रमुख हैं । एक ब्रिटिश विद्वान श्री जोशलीन ओवन ने पाठ्यक्रम के निर्माण में विभिन्न घटकों की सहभागिता पर बल देते हुए कहा था कि "हम पाठ्यक्रम की यदि कोई कार्यनीति प्रस्तावित कर सकते हैं तो वह भागीदारी की कार्यनीति है । इस कार्य में सभी संबद्ध पक्षों को सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए।'' पाठ्यक्रम के निर्माण अथवा विकास के क्षेत्र से संबंधित विभिन्न घटकों की अधिकाधिक भागीदारी से पाठ्यक्रम के प्रमुख आयोजकों एवं विषय-विशेषज्ञों को अनेक ऐसी बातों एवं आवश्यकताओं का ज्ञान होता है, जिनके प्रति उनका ध्यान नहीं होता है । पाठ्यक्रम के निर्माण अथवा विकास में भागीदार घटकों तथा उनकी भूमिका का संक्षेप में विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

**(1)शिक्षक –** पाठ्यक्रम के निर्माण के सभी स्तरों पर शिक्षक एक सर्वाधिक महत्व पूर्ण सहभागी घटक है । शैक्षिक उद्देश्यों के निर्धारण, अंतर्वस्तुव के चयन एवं संगठन, शिक्षण विधियों एवं प्रविधियों के चयन, सहायक सामग्री के चयन, मूल्यांणकन विधियों के निर्धारण आदि सभी चरणों में शिक्षक की महत्वपूर्ण भूमिका होती है । व्यक्तिगत रूप से छात्रों एवं उनकी समस्याओं को समझने, उन पर ध्यान देने तथा निर्णय लेने का कार्य प्रभावी रूप से शिक्षक ही कर सकता है । अत: पाठ्यक्रम विकास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भागीदारी शिक्षक की ही होनी चाहिए ।

**(2)छात्र –** मनौवैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कोई भी शैक्षिक कार्यक्रम छात्रों के सहयोग पर ही सफल हो सकता है । कक्षा व कक्षा के बाहर की शैक्षिक क्रियाएँ, अंतर्वस्तुक का चयन, सहायक शिक्षण सामग्री का चयन आदि अनेक क्षेत्रों में छात्रों का सक्रिय सहयोग महत्वपूर्ण है । पाठ्यक्रम विशेषज्ञ इस बात पर बल देते हैं कि पाठ्यक्रम के निर्माण या विकास की प्रक्रिया में छात्रों की सक्रिय भागीदारी की आवश्यकता का समर्थन प्राय: सभी देश करते हैं। किंतु इस प्रक्रिया में हमें उनकी सीमाओं का भी ध्यान रखना आवश्यक है। भारत में शैक्षिक कार्यक्रमों में छात्रों की सहभागिता के अच्छो परिणाम के साथ-साथ यह भी अनुभव किया गया है कि इनकी भागीदारी प्राय: व्यवस्था ही उत्पन्न करती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि उनमें उत्तरदायित्व की भावना का अभाव होता है। अत: पाठ्यक्रम के निर्माण में छात्रों की सहभागिता प्राप्त करने के साथ उनमें उत्तरदायित्व के बोध को विकसित करना आवश्यक है।

**(3)विषय विशेषज्ञ –** विषय विशेषज्ञ संबंधित विषय का पूर्ण ज्ञाता तथा उसकी तकनीकी को जानने समझने वाला व्यषक्ति होता है, इसलिए पाठ्यक्रम के विकास में इनकी भूमिका निर्विवाद है । विषय-विशेषज्ञ को अपने विषय से संबंधित बिंदुओं को पूरी निष्पक्षता के साथ अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करना चाहिए। उसे विषयों के व्यावहारिक पक्ष को समझते हुए संदर्भ इकाइयों के निर्माण में सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए । इस कार्य को सार्थक करने के लिए उसे शिक्षण कार्यों तथा अन्यो विद्यालयीन कार्यों में भी भाग लेना चाहिए, ताकि उसे विषय के व्यावहारिक पक्ष को समझने में सहायता मिल सके। उसे ज्ञान प्राप्ता करने के सभी स्रोतों की जानकारी होनी चाहिए उसे अनुसंधान के निष्कार्षों प्रयोगों एवं नवाचारों का मूल्यांभकन करके उनका समुचित उपयोग करने का प्रयास करना चाहिए।

**(4)जनसामान्य और अभिभावक –** प्रजांतात्रिक व्यवस्था जनसामान्यक अथवा छात्रों के अभिभावकों को पाठ्यचर्या के संबंध में अपना मत एवं अपनी प्रतिक्रिया व्याक्तकरने का अधिकार होता है। शिक्षा के संबंध में तो यह और भी महत्वपूर्ण है । अत: पाठ्यक्रम के निर्माण व विकास में जनसामान्य की भगीदारी उचित है । इस प्रक्रिया में

शैक्षिक उद्देश्यों के निर्धारण में उनकी सहभागिता होनी चाहिए। पाठ्यचर्या के तकनीकी पक्षों में जनसामान्य की सलाह ली जा सकती है। जिस पर तकनीकी विशेषज्ञ निर्णय ले सकते हैं। इस प्रकार पाठ्यक्रम के निर्माण में जनसामान्य के विचार अवश्य सुनने चाहिए। कई बार उनके विचारों को ठीक से ध्यान देने पर उनसे उपयोगी संकेत भी मिलते हैं, जो हमारी प्रगति के लिए आवश्यक दिशा प्रदान कर सकते हैं।

**(5)समाजशास्त्री -** पाठ्यचर्या के निर्माण अथवा विकास में सामाजिक दृष्टिकोण का महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा को अपने लक्ष्य को प्राप्त- करने के लिए पाठ्यक्रम को छात्रों की सामाजिक-आर्थिक भूमि तथा उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप होना चाहिए। समाज की प्रकृति को समझने तथा छात्रों की पारिवारिक-सामाजिक पृष्ठथभूमि को जानने के लिए समाजशास्त्रियों का सहयोग आवश्यक है। अत: पाठ्यक्रम के विकास की प्रक्रिया में समाजशास्त्रियों की सहभागिता महत्वपूर्ण है।

**(6)राजनीतिज्ञ –** शिक्षा के क्षेत्र में राजनीतिज्ञों की भूमिका हमेशा से विवाद का विषय रहा है। कुछ विचारक मानते हैं कि शिक्षा में राजनीतिज्ञों का हस्तक्षेप उचित नहीं है। इसके विपरीत विचारकों का दूसरा वर्ग भी है जो शिक्षा के क्षेत्र में राजनीतिज्ञों की सहभागिता को उचित मानते हैं। प्रथम वर्ग के विचारक जो राजनीतिज्ञों की आलोचना करते हैं उनको यह समझना चाहिए कि इससे शिक्षा में लाभ के स्थान पर हानि अधिक होती है। राजनीतिज्ञों को भी शिक्षा के प्रति अपनी आस्था बढ़ाने तथा अपने दायित्वों के प्रति सजग रहने की आवश्यकता है। अत: राजनीतिज्ञ भी पाठ्यक्रम विकास की प्रक्रिया में सहभागी बनें तथा उसमें अपेक्षित सुधार हेतु सक्रिय सहयोग प्रदान करें। हमारे देश में ऐसे अनेक अवसर आए हैं, जब राजनीतिज्ञों के दबाव के परिणामस्वारूप पाठ्यक्रम में परिवर्तन हुए हैं। अत: इन समस्या ओं के समाधान के लिए राजनीतिज्ञों की पाठ्यक्रम के निर्माण व विकास में सहभागिता होनी चाहिए।

**अपनी प्रगति की जाँच कीजिए –**

4. पाठ्यक्रम के निर्माण में विभिन्न सहभागी घटकों की भूमिका का वर्णन कीजिए।

## 1.5 पाठ्यक्रम विकास के उपागम

प्राचीन काल में पाठ्यक्रम का अर्थ कुछ विशेषताओं तक ही सीमित था, परंतु आजकल पाठ्यक्रम के अंतर्गत बालक के सभी अनुभव, क्रियाएँ, विषय तथा जीवन की वास्तविक परिस्थितियाँ आ जाती हैं। इन परिस्थितियों के द्वारा ही शिक्षक बालक की आदतों तथा व्यवहार में परिवर्तन करता है। इस प्रकार पाठ्यक्रम के प्राचीन और नवीन दृष्टिकोण में बहुत परिवर्तन हो गया है।

पाठ्यक्रम के उपागम पाठ्यक्रम के संगठन की विभिन्नता पर आधारित होते हैं। यदि पाठ्यक्रम के संगठन में बालक की स्वाभाविक क्रियाओं आदि को अधिक महत्वा दिया जाता है, तो पाठ्यक्रम बाल केंद्रित हो जाता है। इसी प्रकार जिस पाठ्यकक्रम में अनुभव के आधार पर विषयों का संकलन होता है उसे अनुभव केंद्रित पाठ्यक्रम कहते हैं। पाठ्यक्रम विकास के कुछ महत्वपूर्ण उपागमों की चर्चा यहाँ की जा रही है।

**1.विद्यार्थी केंद्रित पाठ्यक्रम –** विद्यार्थी केंद्रित पाठ्यक्रम में विषय वस्तु को महत्वभ न देकर विद्यार्थी को महत्व दिया जाता है। विद्यार्थी की रुचि, प्रकृति, क्षमता और आवश्यकता के अनुसार पाठ्यक्रम का विकास किया जाता है। विद्यार्थी के व्यक्तित्व के विकास को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम का निर्माण किया जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से

यदि विद्यार्थी की बुद्धि, क्षमता, आयु एवं रुचियों को दृष्टि में रखकर पाठ्यक्रम का निर्माण नहीं किया जाएगा तो विद्यार्थी के व्याक्तित्व का विकास अपूर्ण रहेगा। आजकल आधुनिक शिक्षण विधियों, जैसे – माण्टेसरी पद्धति, किण्ड रागार्टन पद्धति आदि में भी इस प्रकार के पाठ्यक्रम को अपनाने पर बल दिया जाता है।

**2. विषय आधारित पाठ्यक्रम –** विषय आधारित पाठ्यक्रम में सभी विषयों की सामग्री अलग-अलग रखकर पढ़ाई जाती है। पाठ्यपुस्तंकें भी अलग-अलग पाठ्यक्रम के विषयों के अनुसार निर्मित की जाती हैं। इन पाठ्यक्रमों के माध्यम से विद्यार्थी विषयों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। आजकल विद्यालयों में उसी प्रकार की पाठ्यपुस्तकें तैयार की जाती हैं। इस प्रकार के पाठ्यक्रम को अपनाने से विद्यार्थी की अपेक्षा विषयों पर अधिक ध्यान दिया जाता है। पाठ्यक्रम में पुस्तकों को अधिक महत्व देने के कारण इस प्रकार के पाठ्यक्रम को पुस्तक आधारित पाठ्यक्रम भी कहा जाता है।

**3.कुशलता आधारित अथवा शिल्प कला आधारित पाठ्यक्रम –** वर्तमान समय में भारत में इस प्रकार के पाठ्यक्रम पर बहुत बल दिया जा रहा है। बेसिक शिक्षा द्वारा जिस पाठ्यक्रम को प्रतिपादित किया जाता है, वह शिल्पा या कारीगरी आधारित पाठ्यक्रम ही है। शिल्प आधारित पाठ्यक्रम में किसी एक शिल्प को केंद्र में रखकर शिक्षा दी जाती है। इस पाठ्यक्रम में शिल्पे को अधिक महत्व दिया जाता है। शिल्प  को प्रमुख विषय मानकर अन्य विषयों को अधिक महत्व नहीं दिया जाता। महत्मा गांधी ने बुनियादी शिक्षा में पाठ्यक्रम को शिल्प आधारित बनाने को कहा है, वे शिक्षा को व्यावहारिक बनाना चाहते थे। विद्यार्थियों के शिल्पत कार्य से विद्यालय का व्यय निकल आता है। विद्यार्थी शिक्षा प्राप्तब करने के पश्चात इस शिल्प के ज्ञान से अपनी जीविका चला सकते हैं।

शिल्पा के अतिरिक्त पाठ्यक्रम में कला तथा प्रयोगात्मेक कार्यों को प्रधानता दिया जाना भी आवश्यक है। विद्यार्थियों को बुनाई, जिल्द बाँधना, लकड़ी का काम, धातु का काम, कुम्हान का काम इत्यादि क्रियाएँ भी सिखाई जा सकती हैं।

**अपनी  प्रगति की जाँच कीजिए –**

5. पाठ्यक्रम विकास के विभिन्न उपागमों की चर्चा कीजिए।

## 1.6 पाठ्यक्रम निर्माण की प्रक्रिया

पाठ्यक्रम-निर्माण की प्रक्रिया के प्रमुख पाँच सोपान या पद हैं, जो इस प्रकार हैं –

1. शैक्षिक उद्देश्यों का निर्धारण।
2. उपयुक्त अधिगम अनुभवों का चयन।
3. उपयुक्त विषय वस्तु का चयन।
4. अधिगम अनुभव तथा विषय वस्तु का संगठन।
5. मूल्यांकन।

पाठ्यक्रम निर्माण के उपर्युक्त सोपान क्रमबद्ध रूप से एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं। ये एक दूसरे को इस प्रकार प्रभावित करते हैं कि एक की परिणति दूसरे का प्रारंभ होती है। इन्हें एक दूसरे से पृथक करना संभव नहीं है। पाठ्यक्रम निर्माण के उपर्युक्त सोपानों को वृत्तांकार रूप में इस प्रकार दर्शाया जा सकता है-

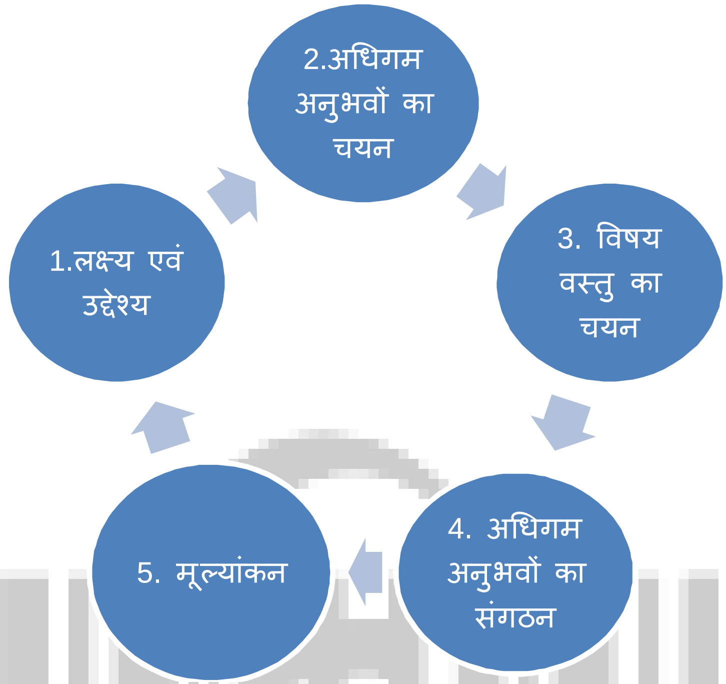


**1. शैक्षिक उद्देश्यों का निर्धारण –** पाठ्यक्रम निर्माण का यह प्रथम सोपान है। पाठ्यक्रम एक व्यवस्थित शैक्षिक कार्यक्रम है। इसके उद्देश्य निश्चित होते हैं, जिनकी प्राप्ति में यह सहायक होता है। शैक्षिक उद्देश्य निश्चित लक्ष्य के द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। अत: पाठ्यक्रम का निर्माण करने से पूर्व सभी संबद्ध व्यक्तियों को उन लक्ष्यों एवं उद्देश्यों के बारे में निश्चित जानकारी होनी चाहिए जिनकी प्राप्ति वे पाठ्यक्रम के द्वारा करना चाहते हैं।

**2. अधिगम अनुभवों का चयन –** अधिगम अनुभव शिक्षण अधिगम प्रक्रिया को सुगम बनाने के लिए आयोजित क्रियाकलापों, प्रयोग में लाई जाने वाली शिक्षण विधियों और शिक्षण अनुभव प्रक्रिया को पूर्ण रूप से निर्देशित करते हैं। शिक्षकों द्वारा अनेक शिक्षण विधियों का प्रयोग किया जाता है, जैसे-व्याख्यान, परिचर्चा, परयोजना कार्य इत्यादि। इसी प्रकार अनेक शिक्षण क्रियाकलाप भी होते हैं, जैसे- फिल्म देखना, प्रयोग करना, क्षेत्र पर्यटन, नोट लेना आदि। शैक्षिक क्रियाकलाप शिक्षण विधियों से ही पैदा होते हैं। शिक्षण विधियाँ और अधिगम क्रियाकलाप दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

**3. विषय-वस्तु का चयन –** विषय-वस्तुन से हमारा अभिप्राय विषय के साथ-साथ अधिगम अनुभवों से भी है। पाठ्यक्रम की विषय-वस्तु ऐसी हो कि छात्र ज्ञान प्राप्त कर उसका दैनिक जीवन में उपयोग कर सकें। विषय वस्तु का चयन करते समय निम्नलिखित बिंदुओं पर ध्या न देना आवश्यक है –

1. विषय-वस्तु के विभिन्न स्रोतों का ज्ञान प्राप्त करना।
2. विषय-वस्तु चयन का आध निश्चित करना।
3. विषय-वस्तु चयन की प्रमुख समस्याओं का ज्ञान एवं उनके समाधान का प्रयास।
4. विषय-वस्तु चयन के मानदंड निर्धारित करना।
5. विषय-वस्तु चयन की प्रक्रिया के प्रमुख पदों का ज्ञान।

**4. अधिगम अनुभवों व विषय-वस्तुय का संगठन–** पाठ्यक्रम निर्माण की प्रक्रिया के इस सोपान में मुख्य रूप से चुने हुए अनुभव व विषय-वस्तु के सम्मिलित रूप का एक निश्चित अर्थ होता है जो शैक्षिक उद्देश्यों से प्राप्त होता है। इसलिए इसे अधिगम अनुभवों की क्रम व्यवस्था कहा जाता है। इस समाकलन तथा क्रमव्यवस्था के संगठन का सिद्धांत विद्यालय तथा कक्षा में उपलब्ध अधिगम स्थितियों, कक्षा में प्रभावी अंत: क्रिया के लिए आवश्यक निवेश, विद्यार्थियों के विकासात्मक स्तर तथा बच्चों के अधिगम सिद्धांतों के आधार पर निर्मित होना चाहिए।

**5. मूल्यांवकन–** पाठ्यक्रम निर्माण का यह अंतिम सोपान है। सार्थक साक्ष्य के आधार पर निर्णय की प्रक्रिया ही मूल्यांकन है। यह साक्ष्य मात्रात्माक (परीक्षा के अंक) या गुणात्मक (प्रेक्षक आधारित सूचना) हो सकता है। मूल्यांकन में पाठ्यक्रम के लक्ष्य। तथा उद्देश्यह पर आधारित मूल्यांकन होता है। उद्देश्य) पर आधारित मूल्यांकन में विशिष्टअता होती है तथा यह शिक्षक के लिए अधिक उपयोगी होता है। नि:संदेह मूल्यांकन की संकल्पना छोटे तथा बड़े दोनो ही स्तरों पर प्रचलित है।

छोटे स्तर पर मूल्यांकन निर्धारित उद्देश्यों तथा वास्तव में प्राप्य उद्देश्यों की प्राप्ति से संबंधित है और जहाँ दोनों में अंतर पाया जाए, उसे दूर करने का प्रयास भी करता है। अंतर का यह विश्लेषण, मापन करने योग्ये उद्देश्यों पर आधारित होता है, परंतु कुछ ऐसे भी उद्देश्यर हैं, जिन्हें मापा तो नहीं जा सकता, किंतु उनका महत्व किसी भी रूप में नहीं है।

**अपनी प्रगति की जाँच कीजिए –**

6. पाठ्यक्रम निर्माण की प्रक्रिया में विभिन्न सोपानों का वर्णन कीजिए।

**1.7 पाठ्यक्रम मूल्यांकन की प्रक्रियाएँ –** पाठ्यक्रम-निर्माण के विभिन्न। सोपानों के अध्ययन से यह कहा जा सकता है कि पाठ्यक्रम-निर्माण का स्वरूप वृत्ताकार है तथा मूल्यांकन इसका वह सोपान है, जिस पर एक चक्र पूर्ण होता है और वहीं से दूसरा प्रारंभ हो जाता है। मूल्यांकन से एक ओर निर्धारित उद्देश्योंच प्राप्ति के बारे में जानकारी प्राप्ता होती है, वहीं दूसरी ओर उसमें संशोधन या परिवर्तन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार मूल्यांकन से भावी उद्देश्यों के लिए दिशा-निर्देश प्राप्त होता है। अत: शैक्षिक उद्देश्यों का निर्धारण पाठ्यक्रम-निर्माता एवं मूल्यांनकर्ता दोनों का समूहिक कार्य होना चाहिए। मूल्यांकन कार्य करने वाले की उद्देश्यों के निर्धारण में सहभागिता इसलिए भी आवश्यक है, जिससे उसे इस बात का ज्ञान हो कि उसे किन चीजों का मूल्यांकन करना है। किंतु मूल्यांकन कार्य केवल शैक्षिक उद्देश्यों के निर्धारण तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह अधिगम-अनुभवों एवं विषय-वस्तु के चयन से भी संबंधित है। उपयुक्तन अधिगम-अनुभवों तथा विषय-वस्तु के चयन के लिए आवश्यक है कि पाठ्यक्रम-निर्माता को विद्यार्थियों की क्षमताओं, अभिरुचियों, व्यक्तिगत विभिन्नताओं, आवश्यकताओं की जानकारी हो। मूल्यांकन में इन सबका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

सामान्य तया कोई भी शैक्षिक अनुभव ऐसा नहीं है जिसके लिए कोई एक संगठनात्मक सिद्धांत पूर्णतया उपयुक्त होता है। इनकी उपयुक्तता ज्ञात करने के लिए मूल्यांकन से सहायता मिल पाती है। इस प्रकार मूल्यांकन प्रक्रिया पाठ्यक्रम-विकास के सभी पक्षों से संबंधित रहती है।

पाठ्यक्रम-अनुसंधान के क्षेत्र में भी मूल्यांकन का बहुत महत्व है। विभिन्न शोधकर्ताओं द्वारा एक ही उद्देश्य या समस्या के लिए अलग-अलग उपागम अपनाए जाते हैं। किन्हीं दो अथवा कई उपागमों के प्रभाव की तुलनात्मक स्थिति का ज्ञान, परिकल्पनाओं का परीक्षण, विभिन्न स्तरों पर विषयों के निर्धारण का प्रभाव आदि मूल्यांकन द्वारा ही संभव हो सकता है। इस प्रकार पाठ्यक्रम की मूल्यांकन प्रक्रिया इसके विकास के सभी चरणों में सतत रूप से चलती रहती है तथा इससे भावी कदम के लिए दिशा-निर्देश प्राप्त होता रहता है। पाठ्यक्रम-निर्माताओं को मूल्यांकन के इस महत्व को सदैव ध्यान में रखना चाहिए।

**अपनी प्रगति की जाँच कीजिए –**

7. पाठ्यक्रम मूल्यांकन की प्रक्रिया समझाइए।

## 1.8 पाठ्यक्रम-निर्माण में शासन की भूमिका

पाठ्यक्रम के निर्माण में शिक्षक, विद्यार्थी, अभिभावक, विषय-विशेषज्ञ समाजशास्त्री , राजनीतिज्ञ आदि सहभागी घटकों के अतिरिक्त शासन स्तर पर राज्यों के शिक्षा विभाग, विभिन्न अनुसंधान संगठन, एन.सी.ई.आर.टी का पाठ्यक्रम विकास विभाग की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। शिक्षा मुख्य रूप से राज्य का विषय है तथा सभी राज्यों की अपनी कुछ स्थानीय आवश्यकताएँ एवं आकांक्षाएँ होती हैं। इसीलिए राष्ट्रीय शिक्षा के समान कोर पाठ्यक्रम में भी राज्यि के मुद्दों को भी सम्मिलित करने का प्रावधान रखा गया है। प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तर पर पाठ्यक्रम विकास प्रक्रिया में राज्य शिक्षा विभाग की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वैसे भी पाठ्यक्रम के क्रियावयन हेतु आर्थिक प्रबंध का भार राज्य सरकारों पर ही होता है। अत: शासन स्तर पर राज्य शिक्षा विभाग के सहयोग के बिना पाठ्यक्रम संभव नहीं है।

केंद्र और राज्यर सरकारों द्वारा स्था पित और संचालित विभिन्न अनुसंधान संगठनों द्वारा भी शैक्षिक कार्यक्रमों का सर्वेक्षण एवं मूल्यांकन किया जाता है। ये संगठन नवाचारों के प्रयोग की समीक्षा भी करते हैं। इसके साथ ही विभिन्न शोधों के निष्कर्षों से बालकों एवं समाज की आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं का भी ज्ञान होता है जो पाठ्यक्रम विकास के लिए अत्याश्यक होते हैं।

भारत में इस समय शिक्षा के विकास पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 में खुले शब्दों में स्वीकार किया गया है कि "शिक्षा पर किया गया व्य य वर्तमान तथा भविष्य के लिए विनियोग है।'' अत: भारत में भी पाठ्यक्रम सुधार पर विशेष बल दिया जा रहा है। इसके लिए विभिन्न स्तरों पर पाठ्यक्रम केंद्रों की स्थापना की गई है। इन केंद्रों का कार्य प्रचलित पाठ्यक्रमों का अध्ययन करके उनमें आवश्यक परिवर्तन करना तथा समयानुसार पाठ्यक्रमों का निर्माण करना है। एन.सी.ई.आर.टी. में इसी उद्देश्य से अलग से पाठ्यक्रम विकास विभाग की स्थापना की गई है। यह विभाग अपने कार्यों के लिए सतत प्रयत्नशील है, जिसके अच्छे परिणाम भी देखने को मिल रहे हैं। इस प्रकार शासन स्तर पर राज्य तथा केंद्र सरकारें पाठ्यक्रम-निर्माण तथा इसके विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं।

**अपनी प्रगति की जाँच कीजिए –**

8. पाठ्यक्रम के निर्माण में शासन की भूमिका बताइए।

## 1.9 पाठ्यपुस्तक और पाठ्यक्रम के निर्माण में विभिन्न सामाजिक कारकों/घटकों की भूमिका

समाज के विभिन्न घटक, जिसमें जनसामान्य, अभिभावक, समाजशास्त्र आदि की विद्यालय के शैक्षिक क्रियाकलापों में रुचि रहती है। शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ उनकी यह रुचि किसी न किसी रूप में रहती हैं। वर्तमान स्थिति तो यह है कि अब प्रत्येक व्यक्ति प्रचलित शिक्षा व्यवस्था पर अपने-अपने ढंग से प्रतिक्रिया व्यक्ति करता हुआ सुनाई पड़ता है। पत्र-पत्रिकाओं में प्राय: शिक्षा व्यवस्था, शिक्षकों और उनके कार्यों पर आलोचनात्मक टिप्पणी की जाती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि आज शिक्षा का कोई भी पक्ष आलोचना से अछूता नहीं रह गया है। राष्ट्र अथवा समाज की किसी भी बुराई के लिए शिक्षा को ही दोषी ठहराया जाता है। इसके समाधान का उपाय यही है कि समाज के सभी महत्व पूर्ण वर्गों को पाठ्यक्रम विकास की प्रक्रिया में सहभागी बनाया जाए। कई बार ऐसा अवश्य होता है कि समाजिक वर्गों के विचार अस्पयष्ट एवं बेढंगे होते हैं किंतु उस पर ठीक से ध्यान देने पर उनसे उपयोगी संकेत भी मिलते हैं जो पाठ्यक्रम के विकास के लिए आवश्यक दिशा प्रदान कर सकते हैं।

पाठ्यक्रम के विकास की प्रक्रिया में समाज की प्रकृति को समझने अर्थात बालकों की पारिवारिक, सामाजिक पृष्ठभूमि को जानने के लिए समाजशास्त्रियों की भी सहभागिता अनिवार्य है। शैक्षिक उद्देश्यों का निर्धारण सामाजिक आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं के अनुरूप किया जाना आवश्यक है। कोई भी शैक्षिक कार्यक्रम तभी सफल हो सकता है, जब वह समाज की विद्यमान स्थितियों के अनुकूल हो। समाज की स्थितियों के अनुसार अनुकूलित करने में समाजशास्त्री महत्वपूर्ण सहयोग कर सकता है। समाजशास्त्रियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे सर्वेक्षणों, अभिमत संग्रह एवं अन्य संबंधित शोध कार्यों के माध्यम से समाज की वास्तविक स्थिति एवं उसमें हो रहे परिवर्तनों से पाठ्यक्रम विशेषज्ञों को अवगत कराकर पाठ्यक्रम विकास-प्रक्रिया में समुचित सहयोग प्रदान करें।

**अपनी प्रगति की जाँच कीजिए –**

9. पाठ्यक्रम निर्माण में विभिन्न सामाजिक घटकों की भूमिका समझाइए।

## 1.10 सारांश

पाठ्यक्रम अध्ययन का एक क्रम है। पाठ्यक्रम के अंतर्गत वे सभी अनुभव आ जाते हैं, जो विद्यालय में शिक्षा के लक्ष्योंर की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं। पाठ्यक्रम के अपने उद्देश्य निश्चित होते हैं, विद्यार्थी को क्या और किस प्रकार पढ़ाया जाए, यह पाठ्यक्रम से ज्ञात होता है। शिक्षा के उद्देश्यों को ध्यान में रखकर शिक्षा के विभिन्ना स्तरों के लिए पाठ्यक्रम का निर्माण किया जाता है, जिसमें शिक्षक, विद्यार्थी, अभिभावक, जनसामान्य, विषय विशेषज्ञ, समाज के विभिन्न घटकों की सहभागिता होती हैं। पाठ्यक्रम निर्माण में शासन की भी भूमिका निश्चित होती हैं। पाठ्यक्रम

निर्माण की एक प्रक्रिया होती है, जिसके विभिन्न सोपान या चरण होते हैं। पाठ्यक्रम निर्माण की प्रक्रिया में अंतिम सोपान इसके मूल्यांकन से संबंधित है।

### 1.11अपनी प्रगति की जाँच के लिए अपेक्षित उत्तर

(1) प्रश्नन क्र. 1 व 2 के लिए अध्यामय 1.2 देखें।
(2) प्रश्नन क्र. 3 के लिए अध्याय 1.3 देखें।
(3) प्रश्नन क्र. 4 के लिए अध्याय 1.4 देखें।
(4) प्रश्नन क्र. 5 के लिए अध्याय 1.5 देखें।
(5) प्रश्नन क्र. 6 के लिए अध्याय 1.6 देखें।
(6) प्रश्नन क्र. 7 के लिए अध्याय 1.7 देखें।
(7) प्रश्नन क्र. 8 के लिए अध्याय 1.8 देखें।
(8) प्रश्नन क्र. 9 के लिए अध्याय 1.9 देखें।

### 1.12 संदर्भ पुस्तकें

**1.** यादव, सियाराम (2008-09), पाठ्यक्रम विकास, आगरा, अग्रवाल पब्लीकेशन्स ।
**2.** माथुर, एस.एस. (2013-14), शिक्षा के दार्शनिक तथा सामाजिक आधार, आगरा, अग्रवाल पब्लिकेशन्स।
**3.** शर्मा. आर.ए. (1997), पाठ्यचर्या विकास, मेरठ, लॉयल बुक डिपो।
**4.** पाण्डेरय, आर.एस. (1990), शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर।
**5.** राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986), मानव संसाधन विकास मंत्रालय, नई दिल्ली, भारत सरकार।

## चतुर्थ छमाही
## ज्ञान और पाठ्यचर्या
## इकाई – 4

**पाठ्यचर्या, पाठ्यचर्या का अर्थ, पाठ्यचर्या और पाठ्यक्रम में संबंध, पाठ्यक्रम के उद्देश्य, पाठ्यचर्या की आवश्यकता एवं महत्व, (पाठ्यचर्या के प्रकार, समय सारिणी, समय सारिणी का अर्थ, समय सारिणी बनाने में कठिनाइयाँ, मुख्याध्यापक तथा समय-सारिणी पाठ्य पुस्तक, पाठ्य पुस्तकों का महत्व, पाठ्य-पुस्तकों की विशेषताएँ, पाठ्य-पुस्तकों की समीक्षा**

**:- इकाई रचना :-**


**4.0.** इकाई परिचय
**4.1.** शिक्षण के उद्देश्य
**4.2.** विषय विवेचन
**4.2.1.** पाठ्यचर्या
**4.2.1.1.** पाठ्यक्रम का अर्थ
**4.2.1.2.** पाठ्यचर्या और पाठ्यक्रम में संबंध
**4.2.1.3.** पाठ्यक्रम के उद्देश्य
**4.2.1.4.** पाठ्यचर्या की आवश्यकता एवं महत्व
**4.2.1.5.** पाठ्यचर्या के प्रकार
**4.2.2.** समय सारिणी
**4.2.2.1.** समय सारिणी का अर्थ
**4.2.2.2.** समय सारिणी की आवश्य कता तथा महत्वं
**4.2.2.3.** समय सारिणी के प्रकार
**4.2.2.4.** समय सारिणी के सिद्धांत
**4.2.2.5.** समय सारिणी बनाने में कठिनाइयाँ
**4.2.2.6.** मुख्याध्यापक तथा समय-सारिणी
**4.2.3.** पाठ्य पुस्तक
**4.2.3.1.** पाठ्य-पुस्तकों का महत्व
**4.2.3.2.** पाठ्य-पुस्तकों की विशेषताएँ
**4.2.3.3.** पाठ्य-पुस्तकों की समीक्षा
**4.3.** सारांश
**4.4.** अपनी प्रगती की जाँच के लिए अपेक्षित उत्तर
**4.5.** शब्दावली
**4.6.** कार्य आवंटन
**4.7.** क्रियाएँ
**4.8.** प्रकरण अध्ययन

**4.9 संदर्भ पुस्तके**

## 4.0. इकाई परिचय

पाठ्यचर्या शैक्षिक की प्राप्ति का एक प्रभावी साधन है। शिक्षा पाठ्यक्रम पर अवलंबन होती है। अत: इस अध्याय में विद्यार्थियों की रुचि एवं योग्यता के अनुसार पाठ्यक्रम की एक संक्षिप्त रूपरेखा बनाया गया है, एवं पाठ्यचर्या, पाठ्यचर्या और पाठ्यक्रम में संबंध पाठ्यचर्या की आवश्यकता एवं महत्व आदि की चर्चा की गई है। निश्चित योजना के बिना किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति एवं किसी भी साधन का प्रयोग करना कष्ट साध्य है। अत: शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पाठ्यचर्या को क्रियान्वित करने के लिए एक योग्य समय सारणी की आवश्यकता है। अत: इस अध्याय में समय सारिणी का अर्थ, आवश्यकता, महत्व, समय सारिणी बनाने के सिद्धांत एवं समय सारिणी बनाने में कठिनाइयाँ आदि विषयों की आलोचना की गई है। शिक्षा व्यवस्था में पाठ्यपुस्तक का महत्व सर्व विदित है। पाठ्यचर्या का महत्वपूर्ण अंग है पाठ्यपुस्तक। अत: इस अध्याय में पाठ्य-पुस्तकों का महत्व, समीक्षा एवं विशेषताएँ बताए गए है।

## 4.1. शिक्षण के उद्देश्य

इस इकाई के पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित में सक्षम होंगे :

1. पाठ्यचर्या और पाठ्यक्रम में संबंध का ज्ञान प्राप्त करना।
2. पाठ्यक्रम का विभिन्न प्रकारों को ज्ञान प्राप्त करना।
3. पाठ्यचर्या की आवश्यकता एवं महत्व का प्राप्त करना।
4. समय सारणी की आवश्यकता तथा महत्व का प्राप्त करना।
5. समय सारिणी के प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना।
6. समय-सारिणी बनाने के सिद्धांत का ज्ञान प्राप्त करना।
7. पाठ्य-पुस्तक के विभिन्न गुणों का ज्ञान प्राप्त करना।
8. पाठ्य-पुस्तकों की समीक्षा ज्ञान प्राप्त करना।

## 4.2. विषय विवेचन

### 4.2.1. पाठ्यचर्या

व्यापक अर्थ में पाठ्यक्रम का तात्पर्य उन सभी अनुभवों से है, जिन्हें बालक अपनी रुचियों तथा आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न क्रियाओं द्वारा कक्षा के अंदर अथवा कक्षा के बाहर समय प्राप्त करता है। माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952-53) ने पाठ्यक्रम के व्यापक अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है – “पाठ्यक्रम का अर्थ केवल उन सैद्धांतिक विषयों से नहीं है, जो स्कूल में परंपरागत रूप से पढ़ाए जाते हैं, अपितु इसमें अनुभवों की वह संपूर्णता भी सम्मिलित होती है, जिनको बालक स्कूल, कक्षा, पुस्तकालय, प्रयोगशाल, वर्कशाप तथा, खेल के मैदान एवं शिक्षकों और छात्रों के अगिनता अनौपचारिक संपर्कों से प्राप्त करता है। इस प्रकार स्कूल का संपूर्ण जीवन पाठ्यक्रम बन जाता है, जो छात्रों के सभी पक्षों को प्रभावित कर सकता है तथा उनके विचार में सहायता दे सकता है।”

‘‘Curriculum does not mean only the academic subjects traditionally taught in the school. But it includes the totality of experiences that pupil receives throught the manifold activities that

go in the class room, library, laboratory, workshop, playgrounds and in the numerous informal contacts between teacher and pupils. In this sense the whole life of the school becomes the curriculum which can touch the life of the students at all points and help in the evolution of balanced personality.'' Secondary Education Commission Report (page 89)

### 4.2.1.1. पाठ्यक्रम का अर्थ

पाठ्यचर्या की अवधारणा के संबंध में प्राय: मतैक्य का अभाव परिलक्षित होता है। इसका कारण पाठ्यचर्या का नामकरण है। पाठ्चर्या को लोग सेलेबस या पाठ्यक्रम, कोर्स ऑफ स्टडी, अध्य यन विषय-वस्तु जैसे अनेक नामों से संबोधित करते हैं। पाठ्चर्या के लिए प्रचलित शब्दम अलग-अलग संदर्भ एवं अर्थों को प्रकट करते हैं। अत: पाठ्चर्या की अवधारणा को शाब्दिक, संकुचित, व्यासपक तीन रूपों में समझा जा सकता है। इससे पाठ्यचर्या के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले विविध नामों का अर्थ एवं अंदर भी स्पष्ट हो सकेगा।

**पाठ्यचर्या का शाब्दिक अर्थ –**

पाठ्यचर्या को आंग्लर भाषा में 'करीकुलम' (Curriculum) 'कहते हैं। लैटिन भाषा में 'कुरीकुलम' (Curriculum) का अर्थ है – दौड़ का मैदान (Race-Course) शिक्षा के क्षेत्र में पाठ्चर्या बालक के लिए एक दौड़ का मैदान ही है। जिस प्रकार एक दौड़ने के मैदान को पार करके दौड़ जीत सकता है, उसी प्रकार बालक भी पाठ्यचर्या रूपी दौड़ के मैदान को पार करके शिक्षा रूपी जीत हासिल करता है। शाब्दिक अर्थ में पाठ्यचर्या छात्रों के लिए दौड़ का रास्ता या दौड़ के समान है, जिस पर चलते हुए वह अपने वांछित शैक्षिक उद्देश्यों को पूरा करता है, अत: शाब्दिक अर्थ के अनुसार पाठ्यचर्या वह मार्ग है जिस पर चलते हुए बालक शिक्षा के उद्देश्य को प्राप्त कर सकता है।

पाठ्यचर्या का संकुचित अर्थ

ध्यायन देते की बात है कि संकुचित अर्थ में पाठ्यचर्या का तात्पर्य केवल एक 'सिलेबस (Syllabus) अथवा 'अध्ययन का कोर्स'(Course of study) है, जिसके अनुसार के तथ्य की सीमाएँ निश्चित कर दी जाती है, जिसके अर्थ में पाठ्क्रम शब्द का भी प्रयोग किया जाता है।

पाठ्यचर्या का व्यापक अर्थ

व्यापक अर्थ में पाठ्यचर्या से आशय बालक के बहुआयामी विकास करने तथा शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शिक्षक द्वारा अपनाई गई व तमाम परिस्थितियाँ, जिससे बालक ज्ञान अनुभव, क्रिया का अर्जन तथा आदत एवं व्यवहार में परिमार्जन करता है। इस प्रकार पाठ्यचर्या में शिक्षक द्वारा पढ़ाए जाने वाले विषय-वस्तुव (पाठ्यक्रम) क्रियाएँ, प्रयोगशाला के कार्य, सामुदायिक कार्य, लेखन, वाचन, पुस्तकालय, कृत-कार्यदिनचर्या आदि सभी समाहित होता है। यूनेस्कोश की रिपोर्ट के अनुसार – "पाठ्यचर्या में विषय सामग्री का विस्तृत वर्णन (पाठ्यक्रम) कार्यक्रम और कुछ हद तक वह अध्ययन विधियाँ भी शामिल किया जा सकता है जो कक्षा में सामग्री को ठीक ढंग से प्रस्तुत करने के लिए प्रयुक्त की जाती है।" अंत: स्पेष्ट है कि पाठ्यचर्या अपने व्यापक अर्थ में विद्यालय में तथा विद्यालय के बाहर अपनाई जाने वाले उन सभी सैद्धांतिक, व्यावहारिक, क्रियात्म्क पहलुओं का संगठन है, जो विद्यार्थियों का बहुपक्षीय विकास के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं।

**पाठ्यक्रम**

पाठ्यचर्या के लिए एक अन्य शब्द सेलबस या पाठ्यक्रम का प्रयोग किया जाता है। पाठ्यक्रम (Syllabus) शब्द संकुचित दृष्टिकोण का परिचायक है। पाठ्यक्रम दो शब्दों से मिलकर बना है। पाठ्य + क्रम अर्थात किसी विषय अध्ययन की वह विषयवस्तु, जो क्रम से व्यवस्थित हो वह पाठ्क्रम कहलाता है। पहले पाठ्यचर्या के पाठ्यक्रम शब्द का ही प्रयोग किया जाता था। लेकिन अब इसके संकुचित मान्यता पर आधारित होने के कारणों पाठ्यचर्या शब्दो का प्रयोग किया जा रहा है। पाठ्यचर्या और पाठ्यक्रम में मूलभूत अंतर है ।

पाठ्यक्रम में किसी विशेष स्तर पर अध्ययन किए जाने वाले विषय के प्रयोजनों, विषय-वस्तु, शिक्षक के लिए अध्यापन सहायक सामग्री, संदर्भ पुस्तकें मूल्यांकन आदि के संबंधित सुझाव आदि के बारे में जानकारी प्रस्तुत की जाती है। पाठ्यक्रम के सहारे शिक्षक को अपने विषय से संबंधित स्तर के अध्यपन कार्य में दिशा-निर्देश प्राप्त होता है। पाठ्यक्रम (Syllabus) का एक अंग होता है। इसमें यह बताया जाता है कि वर्ष के लिए निर्धारित विषय-वस्तु को साप्तहिक मासिक तथा स्तेर (Term) में कैसे पूरा करना है। पाठ्य-क्रम निर्माण में निम्नांकित बातों का ध्यान रखा जाता है –

1. उसमें विषय पढ़ाने के सामान्य उद्देश्य या अपेक्षित उपलब्धियाँ दी जाएँ।
2. वह छात्रों के मानसिक विकास स्तर तथा रुचियों के अनुकूल हो।
3. वह विद्यालय सत्र की अवधि में समाप्त हो सके।
4. उसके विभिन्न प्रकारणों को पढ़ाने के क्रम में संगठित किया जाए।
5. उसमें पूरक पठन सामग्री का निर्देश हो।
6. उसमें शिक्षण–पद्धति तथा सहगामी क्रियाओं का संकेत हो।

### 4.2.1.2. पाठ्यचर्या और पाठ्यक्रम में संबंध

पाठ्यचर्या को 'कुरीकुलम' तथा पाठ्यक्रम को 'सेलेबस' या 'कोर्स ऑफ स्टअडी' कहा जाता है। पाठ्यचर्या में ज्ञानात्मक, भावात्मक, क्रियात्मक तीनों पक्षों से संबंधित तथ्यस्पष्ट होते हैं, जबकि पाठ्यक्रम में केवल ज्ञानात्मक पक्ष से संबंधित तथ्य, की क्रमबद्धता होती है। इस प्रकार पाठ्यचर्या व्यापक होता है और पाठ्यक्रम सकुंचित होता है। उदारहणार्थ– यह कहा जाए कि हाईस्कूल की 'पाठ्यचर्या' तो इसके अंतर्गत माध्यामिक स्तर में पढ़ाए जाने वाले समस्त विषय के पढ़ने योग्या तथ्यों को क्रमिक रूपरेखा, शिक्षक के लिए निर्देश, पाठ्यसहभागी क्रियाकलापों का विवरण आदि सभी समाहित होगा, जबकि पाठ्यक्रम माध्यमिक स्तर में पढ़ाने जाने वाले किसी एक विषय से संबंधित होगा जैसे संस्कृत का पाठ्यक्रम पाठ्यचर्या में अंतर व्यक्त करते हुए रॉबर्ट डोन्टंर्स ने ठिक ही लिखा है कि "पाठ्यचर्या विद्यालय में वर्ष भर विभिन्न विषयों में शिक्षक द्वारा शिक्षार्थियों को दिए जाने वाले ज्ञान की मात्रा के विषय में निश्चित जानकारी प्रस्तुत करता है, जबकि पाठ्यक्रम यह प्रदर्शित करता है कि शिक्षक किस प्रकार की शैक्षिक प्रवृत्तियों के माध्यम से पाठ्यचर्या की जरूरतों को पूरा करेगा।"

**पाठ्यचर्या की परिभाषाएँ**

पाठ्यचर्या के अर्थ संबंधी विविध मतों के अवलोकन के पश्चात इसके अधिक स्पष्टकता के लिए विविध शिक्षाविदों द्वारा दी गई परिभाषाओं को जानना आवश्यक है, जिससे इस संबंध में उचित धारणा बनाई जा सके। कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नंवत हैं-

**1. क्रो और क्रो –** "पाठ्यचर्या में विद्यार्थियों के विद्यालय या उसके बाहर के वे सभी अनुभव शामिल हैं, जो अध्ययन कार्यक्रम में रखे हैं, जिसकी आयोजना उसके मानसिक, शारीरिक, संवेगात्मक, सामाजिक, आध्यात्मिक और नैतिक स्तर पर विकास में सहायता के लिए होता है।"

**2. रडयार्ड तथा हेनरी –** "व्यापक अर्थ में पाठ्यचर्या के अंतर्गत विद्यालय का समस्त परिवेश आता है, जिसमें विद्यालय में प्राप्त सभी प्रकार के संपर्क, पाठ्य क्रियाएँ तथा विषय शामिल है।" ''Curriculum in its broadest sense, includes the complete school environment, involving all the courses, activities, reading and association furnished to the pupils in the school."

**3. के. जे. सैयदेन –** "पाठ्यचर्या वह सहायक सामग्री है, जिसके द्वारा बच्चा अपने आपको उस वातावरण के अनुकूल ढालता है, जिसमें वह अपना दैनिक कार्य-व्यवहार करता है तथा जिसमें उसके भविष्य की योजनाएँ और **क्रियाशीलता निहित है।"**

**4. कर्निंघम –** "पाठ्यचर्या कलाकार (शिक्षक) का वह साधन है, जिससे कि वह पदार्थ (शिष्य) को अपने आदर्श **(उद्देश्यय) के अनुसार अपनी चित्रशाला (विद्यालय) में चित्रित कर सकें।"**

**5. केर –** "पाठ्यचर्या समस्त अधिगम प्रक्रियाओं से संबंधित है, जो विद्यालय द्वारा नियोजित तथा निर्देशित होती है। ये अधिगम अनुभव एक व्यक्ति के लिए अथवा समूह के लिए विद्यालय में अथवा बाहर आयोजित किए जाते हैं।"

**6. ओ. आई. फ्रेडरिक -** "पाठ्यचर्या के अंतर्गत वैयक्तिक अथवा सामूहिक जीवन के सभी व्या.पक क्षेत्र आ जाते हैं। यह सभी वांछित और अर्थपूर्ण क्रियाओं को अपने आँचल में समेटे रहता है।"

**7.** पाठ्यचर्या के व्या।पक अर्थ को प्रकट करते हुए माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952-53) में लिखा है कि - "पाठ्यचर्या का अर्थ केवल उन सैद्धांतिक विषयों से नहीं है जो विद्यालय में परंपरागत रूप से पढ़ाए जाते हैं, अपितु इसमें अनुभवों की वह संपूर्णता भी निहित है, जिसमें बालक विद्यालय, कक्षा, पुस्तकालय, प्रयोगशाला, कार्यशाला तथा खेल के मैदान एवं शिक्षक और शिक्षार्थियों के अनगिनत संपर्कों से प्राप्त करता है, इस प्रकार विद्यालय का संपूर्ण जीवन पाठ्यचर्या बन गया है, जो छात्रों से सभी पक्षों को प्रमाणित कर सकता है तथा विकास में सहायता दे सकता है।"

### 4.2.1.3. पाठ्यक्रम के उद्देश्य

हम इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में इस बात पर स्पष्ट से प्रकाश डाल चुके हैं कि शिक्षा एक त्रिमुखी प्रक्रिया है, जिसके तीन महत्वपूर्ण अंग हैं – (1) शिक्षक, (2) बालक (3) पाठ्यक्रम। यूँ तो उक्त तीनों ही अंगों की पारस्परिक क्रिया में शिक्षा निहित है, पर इन तीनों में पाठ्यचर्या का विशेष महत्व है। इसका एक मात्र कारण यह है कि यदि पाठ्यक्रम न हो तो शिक्षक उचित रूप से शिक्षा नहीं दे सकेगा और न बालक ही शिक्षा को उचित रूप से ग्रहण कर सकेगा, चूँकि शिक्षा के तीनों में पाठ्यचर्या का विशेष महत्व है, इसलिए निम्नलिखित पंक्तियों में हम इस बात पर प्रकाश डाल रहे हैं कि अच्छे पाठ्यक्रम के क्या-क्या उद्देश्य होने चाहिए –

**1.** पाठ्यचर्या को बालक सर्वांगीण विकास हेतु प्रेरणा प्रदान करनी चाहिए।

**2.** पाठ्यचर्या को मानव जाति के अनुभवों को सम्मिलित रूप से स्पष्ट करके संस्कृति तथा सभ्यता का हस्तांतरण **एवं विकास करना चाहिए।**

**3.** पाठ्यचर्या को बालक में मित्रता, ईमानदारी, निष्कहपटता, सहयोग, सहानुभूति एवं अनुशासन आदि गुणों को विकसित करके नैतिक चरित्र का निर्माण करना चाहिए।

**4.** पाठ्यचर्या को बालक की चिंतन, मनन, तर्क एवं विवेक तथा निर्णय आदि सभी मानसिक शक्तियों का विकास करना चाहिए।

**5.** पाठ्यचर्या को बालक के विकास की विभिन्न अवस्था ओं से संबंधित सभी आवश्कताओं मनोवृत्तियों तथा क्षमताओं एवं योग्यताओं के अनुसार नाना प्रकार की सर्जनात्मक तथा रचनात्मक शक्तियों का विकास करना चाहिए।

**6.** पाठ्यचर्या को सामाजिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों तथा कलाओं एवं धर्मों के आवश्य क ज्ञान द्वारा ऐसे गतिशील तथा लचीले मस्तिष्क का निर्माण करना चाहिए जो प्रत्येक परिस्थिति में साधन पूर्ण तथा साहसपूर्ण बनकर नवीन मूल्यों का निर्माण कर सके।

**7.** पाठ्यचर्या को ज्ञान तथा खोज की सीमाओं को बढ़ाने के लिए अन्वेषकों को सृजन करना चाहिए।

**8.** पाठ्यचर्या को विषयों तथा क्रियाओं के बीच की खाई को पाटकर बालक के सामने ऐसी क्रियाओं को प्रस्तुत करना चाहिए जो उसके वर्तमान तथा भावी जीवन के लिए उपयोगी हो।

**9.** पाठ्यचर्या को बालक में जनतंत्रीय भावना का विकास करना चाहिए।

### 4.2.1.4. पाठ्यचर्या की आवश्यकता एवं महत्व

फ्रांसिस जे. ब्राउन ने अपनी पुस्तक "शैक्षिक समाज विज्ञान" में लिखा है कि– "पाठ्यचर्या उन समग्र परिस्थितियों का समूह है, जिसकी सहायता से शिक्षक तथा विद्यालय शासक उन सभी बालकों तथा नवयुवकों के व्यवहार में परिवर्तन लाते हैं जो विद्यालय से होकर गुजरते हैं।" इससे यह स्पष्ट" होता है कि पाठ्यचर्या विद्यालयी व्यवस्था का मूलाधार है। शिक्षा की संपूर्ण गतिविधि पाठ्यचर्या पर ही केंद्रित होती है। पाठ्यचर्या द्वारा शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति होती है। शिक्षक और शिक्षार्थी पाठ्यचर्या को केंद्र में रखकर विचारों के आदान-प्रदान द्वारा किसी चीज को सीखते हैं तथा व्यवहार में परिवर्तन लाते हैं। पाठ्यचर्या से ही छात्र जीवन जीने की कला में परांगत होते हैं। शिक्षक को पाठ्यचर्या से अपने शिक्षण की प्रभावोत्पादकता, शिक्षण की योजना का निर्माण, छात्रों की उपलब्धि का मूल्यांकन करने का दिशा-निर्देश प्राप्तक होता है। अभिभावकों को पाठ्यचर्या से अपने बालकों की शैक्षिक उपलब्धि एवं ज्ञान का पता चलता है। अस्तु पाठ्यचर्या शिक्षा से जुड़ें प्रत्येक व्यक्ति के लिए हितकारी एवं आवश्यकता को प्रकट करता है। संक्षेप में पाठ्यचर्या की आवश्यकता एवं महत्व को अग्रवत व्यक्त किया जा सकता है –

**(1) शिक्षक के लिए, आवश्यकता एवं महत्व –** पाठ्चर्या से शिक्षक को अपने शिक्षण स्वरूप के निर्धारण, शिक्षण के संचालन तथा छात्रों की उपलब्धि को जानने एवं समझने का अवसर तथा छात्रों की उपलब्धि को जानने एवं समझने का अवसर मिलता है। पाठ्यचर्या से शिक्षक अपने शिक्षण विधि का चयन करने में समर्थ होता है और छात्रों का उचित प्रकार से पथ-प्रदर्शन कर सीखने हेतु तत्पर बनता है।

**(2)विद्यार्थी के लिए आवश्यकता एवं महत्व -** पाठ्यचर्या की आवश्यकता एवं महत्व शिक्षार्थी के लिए अत्यधिक है। विद्यार्थी को इससे अपने शिक्षा के उद्देश्यों को पूरा करने में मदद मिलता है। छात्रों को पाठ्यचर्या से पूर्व

तैयारी का अवसर मिलता है तथा वे यह जानने में समर्थ होते हैं कि अमुक विषय में कितना तथ्ये पढ़ना है? अर्थात पाठ्यचर्या के आधार पर शिक्षार्थी अपनी अध्ययन योजना बनाते हैं तथा उस पर चलकर सफलता की प्राप्ति करते हैं।

**(3) समाज के लिए आवश्यैकता एवं महत्वत -** पाठ्यचर्या से समाज को भी लाभ पहुँचता है। पाठ्यचर्या द्वारा नवीन मंतव्यों को जानता है तथा उसके अनुरूप अपने जीवन शैली एवं मान्यताओं को समय-सापेक्ष बनाता है। पाठ्यचर्या से ही समाज में पारंपरिक मान्यताओं के स्थायन पर परिवर्तित मान्यताओं का दिग्दयर्शन होता है। कारण यह है कि विद्यालयी जीवन में पाठ्यचर्या में निहित नवीन मान्यताओं तथा तथ्यों को सीखने के बाद जब बालक विद्यालयी जीवन से निकलकर सामाजिक जीवन मे पदार्पण करता है तो वह समाज को कुछ नवीनतायुक्त मंतव्य देता है। जब इसका व्यापक, तथ्य , विचार, मान्यता, मूल्यन, आदर्श समाज का अभिन्न अंग बन जाता है। इस प्रकार पाठ्यचर्या समाज के लिए भी उपयोगी है।

**(4) सांस्कृतिक उन्नयन हेतु आवश्यकता एवं महत्व –** समाज एवं संस्कृति के उन्ननयक तत्वों को पाठ्यचर्या में स्थान दिया जाता है। यह तत्व शिक्षा एवं समाज दोनों के उन्नयन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। पाठ्यचर्या में सांस्कृतिक मूल्यों की सीख प्राप्त करके विद्यार्थी अपनी संस्कृति एवं सभ्यता की विशिष्टता, उसकी मौलिकता, करणीय एवं अकरणीय कर्त्तव्यों, जीवनादर्शों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। कालातंर में ऐसे बालक ही विद्यालय से निकलकर अपनी सृजनात्मशक प्रतिभा द्वारा सांस्कृतिक विरासत की रक्षा तथा उसके उन्नयन हेतु समर्पित होकर कार्य करते हैं।

**(5) अंतर्दृष्टि तथा अवबोध के विकास हेतु आवश्यकता एवं महत्व-** विद्यालय में बालक विविध विषयों का जब अध्ययन करता है, विविध पाठ्य सहगामी क्रियाओं में हिस्साद लेता है तथा अध्ययन के द्वारा पाठ्यचर्या से तरह-तरह के अनुभव अर्जित करता है, तो इससे उसकी अंतर्दृष्टि प्रखर बनती है और उसमें अवबोध का प्रकटन होता है।

**(6) शिक्षा की समान संरचना एवं समानता की स्थापन -** पाठ्यचर्या की सुनिश्चितता से संपूर्ण राष्ट्र में एक समान शैक्षिक संरचना बनाने तथा सभी के लिए समानता युक्त शैक्षिक व्यवस्थां को अंजाम देने में मदद मिलती है।

**(7) शिक्षा को नवीन मंतव्यों से अलंकृत करने में सहायता –** पाठ्यचर्या से शिक्षा को नवीन दिशा प्रदान करने में भी मदद मिलती है। दिन-प्रतिदिन शिक्षा में नई-नई समस्याएँ तथा सामाजिक कुरीतियाँ उदित हो रही हैं। इन समस्याओं और कुरीतियों को समाप्त करने हेतु नवीन विधाएँ अविष्कृत हो रही हैं। इनको पाठ्यचर्या में स्थाअविष्कृबोध करके समाज के नौनिहालों को नया दिशा-बोध कराने में सहायता मिलती है।

## 4.2.1.5. पाठ्यचर्या के प्रकार

पाठ्यचर्या का वर्गीकरण कई आधारों पर किया जाता है। सामान्यता पाठ्यचर्या के प्रमुख प्रकार निम्नवत प्रस्तुत किए जा सकते हैं –

**(1) विषय–केंद्रित पाठ्यचर्या -** विषय केंद्रित पाठ्यचर्या में विविध विषयों की प्रधानता रहती है। इसमें ज्ञान की खंड-खंड में विषयों में समाहित किया गया होता है। यह पूर्णत: संकुचित तथा जीवन के लिए अनुपयोगी होता है। विषय केंद्रित पाठ्यचर्या में व्यवहारिक पक्ष की अपेक्षा सैद्धांतिक पहलुओं को अधिक महत्व दिया जाता है। सभी विद्यार्थी एक ही तथ्य का अध्ययन करते हैं, जिससे उनकी रुचि, आवश्यकता, अभिक्षमता की अवहेलना होता है। यह पाठ्यचर्या पूर्णत: अमनोवैज्ञानिक तथा अप्रगतिशील होती है।

विषय केंद्रित पाठ्यचर्या मूलत: पुस्तक प्रधान होता है । इसके पाठ्यवस्तु में परिवर्धन, परिवर्तन, काट-छाँट करने में सरलता होती है । इस प्रकार की पाठ्यचर्या के अध्ययन तथा अध्याप्न में सुगमता रही है । शिक्षक और शिक्षार्थी पूरे मनोयोग और रुचि से तथ्यों को आत्मसात करने में तल्लीन होते हैं।

**(2) बाल-केंद्रित पाठ्यचर्या –** बाल केंद्रित पाठ्यचर्या में बालकों की रुचि, आवश्यकता, अभिक्षमता, सीखने की क्षमता, आयु, योग्येता आदि को ध्यान में रखकर विषय-वस्तुस का चयन किया जाता है। जेम्स एम.ली. का कथन है कि – "बाल केंद्रित पाठ्यचर्या वह है जो पूर्णत: और समग्र रूप से सीखने वाले में निहित होती है।" वास्तव में बाल केंद्रित पाठ्यचर्या में बालक को केंद्रित बिंदु मानकर उसकी मनोवैज्ञानिक स्थिति एवं दशा के अनुरूप पाठ्यचर्या का सृजन किया जाता है। मान्टेमसरी, फ्रोवेल योजना की पाठ्यचर्या बाल केंद्रित दृष्टिकोण पर आधारित है।

**(3) अनुभव केंद्रित पाठ्यचर्या –** अनुभव केंद्रित पाठ्यचर्या में विषयों की अपेक्षा अनुभवों को महत्व दिया जाता है। इसमें बालकों को विविध कार्य स्वयं करके सीखने एवं अनुभव में एकता की भावना का होना अत्यंत आवश्यक है। इस कार्य को संपादित करने में अनुभव केंद्रित पाठ्यचर्या विशेष उपादय होता है । अनुभव केंद्रित पाठ्यचर्या मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों से ओतप्रोत मननीय, सर्वांगीक विकास का मूर्त रूप देने वाला है। किंतु उसका संचालन करना अत्यंत खर्चीला तथा मूल्यांकन प्रक्रिया में दिक्कत उत्पन्न करती है।

**(4)क्रियाकेंद्रित पाठ्यचर्या –** पाठ्यचर्या का वह रूप, जिसमें कार्य या क्रिया करके बालकों को सीखने की व्यवस्था होती है वह क्रिया केंद्रित पाठ्यचर्या कही जाती है। वास्तव में बच्चों की रुचि किसी क्रिया द्वारा किसी चीज को सीखने में अधिक होती है। बच्चे पूरे मनोयोग से इससे सीखते हैं और आनंदित भी होते हैं। कमेनियम ने स्पष्ट कहा है कि - "जो कुछ भी सीखना है द्वारा करके ही सीखा जाए।"

डीवी का मत है कि - "क्रिया पाठ्यचर्या बच्चे की क्रियाओं का सतत प्रवाह है, जिसे विधिवत विषयों द्वारा खंडित नहीं किया जाता है और बच्चों की रुचियों तथा आवश्यकताओं से प्रवाहित होता है।" वास्तव में क्रियाकेंद्रित पाठ्यचर्या बालक की प्राकृतिक एवं मूल प्रवृत्तियों को सही दिशा प्रदान करने, बच्चे का शारीरिक, बौद्धिक, भावात्मक तथा सामूहिकता की भावना जगाने में अत्यंत कारगर होती है। किंतु क्रिया केंद्रित पाठ्यचर्या की रूपरेखा सैद्धांतिक विषयों में नहीं बनाई जा सकती है। यह केवल वैज्ञानिक विषयों में ही अत्यंत सहायक भूमिका अदा कर सकती हैं।

**(5) शास्त्री य पाठ्यचर्या –** शास्त्री य पाठ्यचर्या को परंपरावादी पाठ्यचर्या भी कहा जाता है। इस पाठ्यचर्या में आध्यात्मिकता एवं नैतिकता प्रधान विषयों को शामिल किया जाता है। शास्त्रीय पाठ्यचर्या में भाषा, साहित्य के साथ-साथ कुछ आधुनिक विषयों को भी महत्व दिया जाता है। प्राय: संस्कृत विद्यालयों की पाठ्यचर्या शास्त्रीय ही होती है, जिसमें व्याकरण, धर्मशास्त्र, ज्योयतिष, नक्षत्र विज्ञान, आयुर्वेद आदि को महत्व दिया गया होता है। आधुनिक समय में शास्त्रीय पाठ्यचर्या महत्वहीन समझा जा रहा है।

**(6) शिल्पं केंद्रित पाठ्यचर्या –** पाठ्यचर्या में जब किसी हस्तशिल्प या कारीगरी से युक्त अवयवों को स्थान दिया गया होता है तो उसे शिल्प केंद्रित पाठ्यचर्या कहा जाता है। महात्मा गांधी ने अपने बेसिक शिक्षा-योजना में पाठ्यर्चा का शिल्प केंद्रित स्वरूप दिया था, जिसमें किसी शिल्प या हस्तकार्य को केंद्र में रखकर अन्य विषयों की शिक्षा देने का प्रावधान था । जैसे- कृषिकार्य करने वाले को कृषि संबंधित ज्ञान के साथ-साथ रसायनशास्त्र, भूगोल, गणित की जानकारी दी जाती थी।

**(7) कोर पाठ्यचर्या –** कोर पाठ्यचर्या या केंद्रित पाठ्यचर्या वह होती है, जिसमें कुछ विषय छात्रों को अनिवार्य रूप से पढ़ने पड़ते हैं तो कुछ विषयों का चुनाव विविध विषयों के विकल्प में से कर सकते हैं। वस्तुत: इस पाठ्यचर्या का उदय सर्वप्रथम अमेरिका में हुआ, किंतु इसकी उपयोगिता को दृष्टि में रखकर अब वह भारतीय शिक्षा कि पाठ्यचर्या का एक अहम हिस्सा बन चुका है। राष्ट्री य शिक्षा नीति (1986) में वर्णित है कि- "हमारा भारतीय समाज अनेक वर्गों, जातियों संप्रदायों, भौगोलिक स्थितियों तथा विविध भाषाओं में बँटा हुआ है। इसीलिए पाठ्यचर्या का सृजन स्थांनीय, सामाजिक, भाषाओं आवश्यकताओं को ध्या्न में रखकर किया जाना चाहिए। पाठ्यचर्या में कुछ विषय ऐच्छिक तो कुछ अनिवार्य होना चाहिए। इससे कुशल, कर्तव्यपरायण तथा परिश्रमी व्युक्तियों का निर्माण हो सकेगा। इसके साथ ही व्युक्तिगत तथा सामाजिक समस्याओं का भी अंत होगा। कोर पाठ्यचर्या में निम्नलिखित विषयों को रखा जाएगा जो अनिवार्य होगा-

**1.** भारतीय स्वातंत्रता आंदोलन का इतिहास
**2.** संवैधानिक उत्तरदायित्वल तथा राष्ट्रीय अस्मिता से संबंधित तत्व
**3.** समानतायुक्त भारतीय सांस्कृतिक विरासत के तत्व
**4.** लोकतंत्र
**5.** धर्मनिरपेक्षता
**6.** स्त्री-पुरुषों के बीच समानता
**7.** पर्यावरण-संरक्षण
**8.** सामाजिक समानता
**9.** जनसंख्यास वृद्धि को रोकन हेतु सीमित परिवार का महत्व समझाना।
**10.** मानवाधिकार

**(8) एकीकृत पाठ्यचर्या अथवा पाठ्यचर्या का एकीकरण –** एकीकृत पाठ्यचर्या का आशय, उस पाठ्यचर्या से है, जिसमें विषयों क्रियाओं को खंड-खंड में न बाँटकर, बल्कि एकीकृत रूप में रखा जाता है। इससे बालक एक विषय में प्राप्त ज्ञान का दूसरे विषय में लाभ उठाने में समर्थ होता है। वास्तव में एकीकृत पाठ्यचर्या के उदय में मनोविज्ञान के गेस्टाल्ट सिद्धांत का महत्वपूर्ण योगदान है। गेस्टासल्टीवादियों की मान्यता है कि मानव मस्तिष्क एक इकाई के रूप में कार्य करता है, इसलिए इसे छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटकर देखना उचित नहीं है। मानव मस्तिष्क की भाँति ज्ञान भी अविभक्त है। इसे खंड-खंड में विभाजित करना यथेष्ट नहीं कहा जा सकता है। अतएव मानव मस्तिष्क एवं ज्ञान के स्वरूप को दृष्टिगत रखकर पाठ्यचर्या को छोटे-छोटे इकाइयों में विभक्त न करके एक पूर्ण इकाई के रूप में ग्रहण करना चाहिए। विषयों में पारस्परिक भिन्नता नहीं होनी चाहिए, बल्कि पाठ्यचर्या में एकात्मकता, संतुलन, केंद्रीकरण और सजीवता विद्यामान होनी चाहिए।

शिक्षा मानव जीवन को समुन्त बनाने वाली प्रक्रिया है। मानव जीवन उनके परिवर्तित आयामों से परिवर्तित स्वरूप धारण करता रहता है। शिक्षा एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है, इसलिए शिक्षा की पाठ्यचर्या कुछ विषयों में विभाजित

**अपनी प्रगति की जाँच 1 –**

1. पाठ्यचर्या और पाठ्यक्रम में सबंध बताइए?

2. पाठ्यक्रम का अर्थ बताइए?

### 4.2.2 समय सारिणी

यदि विद्यालय का कार्य कुशलतापूर्वक चलाया जाना है, तो विद्यालय के संपूर्ण कार्य की एक विस्तृत योजना होनी चाहिए, जिसमें विद्यालय के प्रतिदिन के निर्धारित समय का विभिन्न विषयों एवं क्रियाओं आदि के लिए विभाजन हो। ऐसी योजना का समय सारिणी, जिससे प्रतिदिन के समय को विभिन्न विषयों एवं क्रियाओं के बीच विभाजित किया गया हो, विद्यालय की आंतरिक व्यवस्थात के लिए बहुत ही आवश्यक तत्व है। इसके अभाव में विद्यालय के कार्य में अस्त-व्यस्त होने की संभावना रहती है। समय सारिणी निर्माण में विद्यालय के अधिकारियों को बड़ी सतर्कता रखनी चाहिए, क्योंकि उत्तम समय सारिणी के बन जाने पर ही विद्यालय कार्य को कुशलतापूर्वक चलाया जा सकता है। इसके साथ ही उत्तम ही उत्तम तालिका शक्ति, समय एवं धन के दुरूपयोग को रोकती है तथा बालकों को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए सुवसर प्रदान करती है। अत: विद्यालय के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विद्यालय के समस्त तत्वों -भौतिक एवं मानवीय को कार्यरूप में परिणत करने के लिए समय-तालिका या प्रतिदिन के कार्यक्रम की योजना परमावश्यक है, जिससे समस्तू उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सुव्यवस्थित रूप से कार्य किया जा सके। समय-तालिका का निर्माण बालकों तथा शिक्षकों-दोनों के दृष्टिकोन से आवश्यक है।

#### 4.2.2.1 समय-सारिणी का अर्थ

विद्यालय में छात्रों का वर्गीकरण करने तथा पाठ्यक्रम का निर्धारण करने के पश्चात यह आवश्यक हो जाता है कि विद्यालय के निर्धारित समय का उचित प्रकार से विभाजन किया जाए, जिससे विद्यालय में होने वाली समस्त क्रियाओं एवं अनुभवों की सुव्यवस्था को सके। इसके अतिरिक्त पाठ्यक्रम के विभिन्ना विषयों को उनके सापेक्षिक महत्व के अनुसार समय दिया जा सके एवं बालकों के व्यक्तित्व के सभी पक्षों का विकास किया जा सके। विद्यालय की जिस योजना या चार्ट के द्वारा प्रतिदिन के निर्धारित समय को विभिन्न विषयों, क्रियाओं एवं कक्षाओं के बीच प्रदर्शित किया जाता है, उसे समय सारिणी, समय-तालिका या प्रतिदिन के कार्य की योजना के नाम से पुकारा जाता है। समय सारिणी को स्कूल का 'Spark Plug' कहा जाता है, जिससे स्कूल की समस्त गतिविधियाँ हरकत में आ जाती हैं। किसी ने ठीक कहा है- "समय सारिणी शिक्षालय की दूसरी घड़ी है।'' यह वह तालिका है, जिससे स्कूल के सारे कार्यों का एक दृष्टि में पता चलता है। इसके द्वारा हम जान लेते हैं कि स्कूल में कितने घंटे कार्य होता है, किस समय किस कक्षा में, कौन-सा कार्य होना चाहिए, कौन से शिक्षक कक्षा में होने चाहिए तथा कौन-से दूसरे कार्य करते हुए वे व्यस्त रहें हाजिरी में किसका समय कौन-सा है, प्रात: असेम्बली का, व्यायाम का, खेलों तथा आधी छुट्टी आदि का कौन-सा समय है?

### 4.2.2.2 समय सारिणी की आवश्यकता तथा महत्व

विद्यालय में समय सारिणी स्थान महत्वकपूर्ण है, क्योंकि यह वह दर्पण है, जिसमें विद्यालय का समस्त शैक्षिक कार्यक्रम प्रतिबिंबित होता है। वह शिक्षकों के कार्य को व्यवस्थित करती है तथा उन्हें अपने संतुलन को बनाए रखने में भी सहायता प्रदान करती है। इसके साथ ही समय सारिणी विद्यालय के कार्यक्रम को सुव्यवस्थान प्रदान करके समय का सदुपयोग करती है। इसके द्वारा विभिन्न विषयों, क्रियाओं आदि पर उनके महत्व के अनुसार निर्धारित समय का विभाजन करके विद्यालय के निर्धारित समय को अधिकाधिक उपयोगी बनाया जाता है। यदि विद्यालय में समय सारिणी का अभाव है या उसका निर्माण उपयुक्त ढंग से नहीं किया गया तो समय एवं शक्तिका दुरूपयोग होना स्वा भाविक है।

**समय-सारिणी का महत्व**

**1.मानवीय तथा भौतिक साधनों का सदुपयोग-** नि:संदेह प्रत्येक कार्य योजनानुसार होना चाहिए, इससे समय तथा शक्ति का पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकता है। समय सारिणी द्वारा उपयुक्त शिक्षण, समय पर, उपयुक्त रीति से, उपयुक्त कक्षा में उपयुक्ति विषय पढ़ाता है। इसके माध्यम से सभी प्रकार के साधनों का अधिकतम लाभ उठाया जा सकता है।

**2. स्कूल में नियमपूर्वक कार्य होना –** समय-विभाग-चक्र शिक्षालय में अनावश्यक विचलन तथा अस्तव्यस्त होने का रोकता है। जरा सोचो, यदि प्रत्येक अध्यापक अपनी इच्छानुसार कार्य करे और प्रत्येक विद्यार्थी अपनी इच्छानुसार कक्षा में जाए तो स्कूकल की दशा क्या् होगी? अनुशासनहीनता ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होगी।

**3. सभी कार्यों पर उचित ध्याचन –** समय-विभाग-चक्र द्वारा सभी कार्यों को उनके महत्वे के अनुसार समय मिल जाता है।

**4. नैतिक गुणों पर बल –** शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में समय पर काम करने का गुण निर्माण होता है। समय-तालिका का नैतिक दृष्टि से भी बहुत महत्व है। इसके अनुसार कार्य करने से बालकों में विभिन्न आदतों एवं गुणों का विका होता है। उदाहरणार्थ- समय के महत्व को समझते की शक्ति, नियमितता, विधिवत दृष्टिकोण, कर्तव्य परायणता आदि। इसका शिक्षकों के लिए भी बहुत महत्व है। यह उनमें भी कार्य के प्रति विधिवत दृष्टिकोण उत्पन्न करने में सहायता प्रदान करती है।

**5. छात्रों में शिथिलता तथा प्रमाद को रोकना –** समय-विभाग-चक्र छात्रों में शिथिलता तथा प्रमाद को रोकता है तथा अतिशीघ्रता पर भी प्रतिबंध लगाता है। बिना निश्चित कार्यक्रम के छात्र वर्ष के पहले आधे भाग में मंद रहेंगे और शेष आधे भाग में द्रुतगामी। छात्र तथा शिक्षक सारा वर्ष ही कार्य निश्चित होने पर व्यस्त रहते हैं।

**6. छात्रों की आवश्यकता को ध्याय में रखना-** बालाकों की मानसिक तथा शारीरिक स्थिति को ध्यान में रखा जाता है तथा थकावट को दूर करने में अथवा कम करने में सहायता देता है। इसका मनावैज्ञानिक दृष्टि से भी महत्व है, क्योंकि इसका निर्माण बालकों की रुचियों एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाता है। एक उत्तम समय-तालिका का सीखने की प्रक्रिया को सरल बनाने में बहुत महत्वपूर्ण हाथ हैं, जिसमें बालकों की रुचि, खाने-पीने, उनके विभिन्न पक्षों के विकास के लिए, विभिन्न क्रियाओं के नियोजन आदि के लिए उचित समय प्रदान किया जाता है।

**7. शिक्षकों का समान कार्यभार-** समय सारणी को प्रत्येक शिक्षक को दिए गए कार्यभार का साररूप ढाँचा माना जाता है। इसके निरीक्षण से तुरंत पता चल जाता है कि कार्यभार समान है अथवा नहीं। कार्यभार समान करने के उपाय सोचे जाते हैं।

**8. शिक्षकों को उनके पाठों की तैयारी में सहायता-** अध्यापक पहले से ही जानते हैं कि किस घटे में क्या पढ़ाना है। उसी के अनुसार वे तैयारी करके आते हैं।

**9. छात्रों के लिए लाभ –** छात्र भी जानते हैं कि कब-कब किस विषय की पढ़ाई होगी। उसी के अनुसार वे पुस्तकें लाते हैं तथा गृह-कार्य करते हैं।

**10. अनुशासन स्थातपित करना –** समय-तालिका अनुशासन स्थापित करने का उत्ताम साधन है। इसके द्वारा विद्यालय का संपूर्ण जीवन व्यवस्थित रूप से चलाया जाता है। इसके अनुसार कार्य करने से सभी संपूर्ण जीवन व्यवस्थित रूप से चलाया जाता है। इसके अनुसार कार्य करने से सभी अपने-अपने में व्यस्त रहते हैं। इसके साथ ही समय-तालिका द्वारा विद्यालय को कुशलता एवं निश्चितता प्रदान की जाती हैं।

### 4.2.2.3 समय सारिणी के प्रकार

**1.** समूचे स्कूल के लिए सुसंगठित समय सारिणी हो जो स्कूल की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक कक्षा तथा प्रत्येक अध्यापक के समय तथा कार्य के बारे में बताए।

**2.** कक्षा समय सारिणी

**3.** शिक्षक समय सारिणी

**4.** अध्यापकों के अवकाश संबंधी समय सारिणी

**5.** क्रीड़ा समय सारिणी

**6.** पाठ्येत्तर क्रिया समय सारिणी

**7.** गृह-कार्य समय सारिणी

**8.** प्रयोगशाला समय सारिणी

**9.** वर्कशॉप समय सारिणी

### 4.2.2.4 समय सारिणी बनाने के सिद्धांत

समय सारिणी बनाते समय कई सिद्धांतों को सामने रखना पड़ता है। समय-विभाग-चक्र बनाते समय काफी होशियारी का परिचय देना होता है। समय-विभाग-चक्र बनाने वाला शिक्षक तथा मुख्याध्याकप दोनों बहुत ही चतुर होने चाहिए। साधारणत: अग्रलिखित बातों को ध्यान में रखकर समय-विभाग-चक्र बनाना चाहिए –

**1. स्कूल किस स्तर का है -** समय सारिणी स्कूल के कार्यों पर निर्भर है। लड़कों का शिक्षालय है अथवा लड़कियों का साधारण स्कूल है या पब्लिक, शिशु स्कूल है या बड़े बच्चों का, ग्रामीण स्कूल है अथवा नगर का इसका समय विभाग-चक्र पर विशेष प्रभाव पड़ता है। जहाँ पर दो पारियाँ लगती हैं वहाँ समय कम होता है इसलिए समय-विभाग-चक्र अन्य ढंग से अपनाया जाएगा। मिले-जुले स्कूलों में लड़कियों की सुविधा के लिए कुछ विशेष परिवर्तन करने होंगे। घंटे का समय बड़े स्कूलों में ज्यादा होगा और छोटे बच्चों के स्कूलों में कम।

**2. विभागीय नियम –** किस विषय को तथा किस को कितना समय दिया जाए इसका निर्णय कुल समय पर आधारित है। प्राय: हायर सेकण्ड री स्कू लों में प्रतिदिन स्कूल अधिक समय के लिए लगता है, इस कारण घटे भी बड़े होते हैं। दूसरा कारण यह है कि बड़े बच्चे जल्दी नहीं थकते। पंजाब शिक्षा कोड के अनुसार राजकीय स्कूलों में स्कू ल खुलने अथवा बंद होने का समय निरीक्षण द्वारा निर्धारित होगा तथा दूसरे मान्यता प्राप्त स्कूलों में समय कमेटी द्वारा। समय

निर्धारित करते समय मौसम, स्थान, बच्चों की कक्षा तथा विषय को ध्यान में रखते हुए एक सप्ताह में पढ़ाने का समय (ड्रिल तथा आधी छुट्टी को छोड़कर) नीचे दी हुई सीमा से बाहर नहीं जाएगा-

**3.** पहली कक्षा 16 घंटे

4. दूसरी तथा तीसरी 19 घंटे

**5.** चौथी 24 घंटे

**6.** सेकेण्डरी कक्षाएँ 30 घंटे

**3. विषयों का महत्व तथा विषयों की कठिनता –** स्कूल के पाठ्यक्रम में कुछ विषय अधिक महत्वपूर्ण माने गए हैं तथा कुछ कम और कुछ अधिक कठिन माने जाते हैं। अंग्रेजी तथा हिसाब (गणित) का विषय अधिक महत्वपूर्ण माना गया है तथा कठिन भी। अत: इनको अधिक समय दिया जाता है। गाँव के स्कूलों में बागवानी तथा कृषि आदि को अधिक समय दिया जाता है।

**4. थकावट का सिद्धांत –** थकावट का सिद्धांत समय-विभाग-चक्र बनाने में बहुत प्रभाव डालता है। कुछ विषय ऐसे होते हैं, जिनके पढ़ने में छात्रों को बहुत थकावट आती है तथा कुछ ऐसे विषय होते हैं, जिनके पढ़ने में छात्रों को कोई थकान नहीं मालूम पड़ती अथवा कम थकान मालूम पड़ती है।

शिक्षा में पहला घंटा अधिक थकान वाला नहीं माना गया है। धीरे-धीरे छात्रों के मन एकाग्र होते हैं। दूसरे घंटे के आरंभ तक उनकी रुचियों अथवा शक्तियाँ सजग हो जाती हैं। इसके पश्चाकत समय व्यतीत होने पर धीरे-धीरे थकावट आने लग जाती है। चौथे घंटे में छात्र थक जाते हैं और अवकाश चाहते हैं। आधी छुट्टी के बाद छात्रों में फिर स्फूर्ति व शौक उत्पन्न होता है। छठे घंटे में छात्र अध्ययन के लिए पूर्ण रूप से तैयार हो जाते हैं। आठवें घंटे में वे बहुत थकान का अनुभव करते हैं।

स्कूल का प्रात: कालीन भाग अर्थात आधी छुट्टी से पहला भाग शिक्षालय के दूसरे भाग से ज्यादा अच्छा होता है। पहले चार घंटे में अंतिम चार घंटों की अपेक्षा छात्र कम थकान अनुभव करते हैं स्कूल का पहला घंटा पाँचवें से, दूसरा छहे से, तीसरा सातवें से और चौथा घंटा आठवें घंटें से थकान की दृष्टि से अच्छा रहता है।

थकावट का सिद्धांत सप्ता ह के दिनों में भी उसी प्रकार लागू होता है। मंगलवार तथा बुधवार पढ़ाई की दृष्टि से सप्ताह के बहुत अच्छे दिन माने गए हैं। सप्ताह का पहला दिन सोमवार इतना अच्छा नहीं माना गया है। इस दिन छात्रों में इतनी स्फुर्ति नहीं होती, क्योंकि यह दिन छुट्टी के बाद आता है। शनिवार सप्ताह का पढ़ाई की दृष्टि से अंतिम दिन होने के कारण थकान का दिन माना गया है। समय-विभाग-चक्र बनाते समय इस बात का ध्यान में रखना चाहिए।

थकान वाले विषयों का स्थान इस प्रकार है – गणित, अंग्रेजी, हिंदी तथा संस्कृत, विज्ञान, भूगोल, विज्ञान की प्रयोगात्मक क्रियाएँ, ड्राइंग, हस्त कला, संगीत, आष्ठकला व खेतीबाड़ी भी ऐसे विषय हैं, जिनमें थकान कम अनुभव होती है। अंग्रेजी तथा गणित के लिए दूसरा तथा तीसरा घंटा ठीक है। आठवें घंटें में ड्रिल, संगीत, ड्राइंग अथवा प्रयोगात्मक क्रियाएँ रखनी चाहिए।

छोटे बच्चे बड़ों की अपेक्षा जल्दी थक जाते हैं, इस कारण घंटे की अवधि 30 मिनट से अधिक नहीं होनी चाहिए तथा बड़े बच्चों के लिए 40 मिनट से अधिक नहीं। गर्मियों के दिनों में घंटों की संख्या तो बढ़ा देनी चाहिए, परंतु अवधि कम करनी चाहिए।

**5. विभिन्नता का सिद्धांत –** जहाँ तक संभव हो सके स्थायन, विषय तथा अध्यापक की विभिन्नता होनी चाहिए। ऐसा करने से थकावट कम अनुभव होती है। थकावट तथा विभिन्नता में सिद्धांत मिलते-जुलते ही है। काम में

विभिन्नता भी आराम के तुल्या है । बच्चों को लगातार एक ही विषय उसी अध्यापक द्वारा पढ़ाने का नीरस-सा अनुभव होने लगता है। विभिन्नता निम्नलिखित उपायों से आ सकती है-

**1.** कोई भी विषय (प्रैक्टिकल को छोड़कर) लगातार दो घंटे नहीं पढ़ाना चाहिए ।

**2.** विषयों में भी विभिन्न आनी चाहिए। अंग्रेजी तथा इतिहास के पश्चात भारतीय इतिहास नहीं पढ़ाना चाहिए।

**3.** जहाँ तक हो सके एक कक्षा सारा दिन उसी कमरे में न बैठे।

**4.** उसी कक्षा में एक ही अध्यापक के लगातार तीन घंटे नहीं होने चाहिए।

**6. शिक्षकों के लिए खाली घंटे –** अध्यापकों के लिए खाली घंटे अवश्य होने चाहिए। इससे उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है। थकान कम होती है, साथ ही लिखित कार्य को जाँचने का अवसर प्राप्त होता है। औसत दो घंटे प्रतिदिन खाली होने चाहिए। कई बार ऐसा भी देखने में आया है कि एक ही दिन किसी शिक्षक के बहुत से घंटे खाली होते हैं और बाकी दिनों में उसको एक भी घंटे का अवकाश नहीं मिलता । ऐसा करने पर शिक्षक को कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचता। जहाँ तक हो सके, प्रधानाचार्य को चाहिए कि अध्यापकों को खाली घंटे में अपने पास कार्यवश बुलाए।

**7. खेल तथा आमोद-प्रमोद का सिद्धांत –** आराम तथा आमोद-प्रमोद का ध्यान रखना चाहिए। खेल का बच्चों के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। आधी छुट्टी कम से कम आधे घंटे की होनी चाहिए। इस समय बच्चे खुली वायु का सेवन करते हैं, एक-दूसरे से स्वतंत्रतापूर्वक मिलते हैं, खेलते-कूदते तथा कुछ खाते-पीते है । इस प्रकार उनकी थकान दूर होती है । वे फिर से ताजगी अनुभव करते हैं तथा उनकी नीरसता समाप्त होती है ।

रेडियों ब्राडकास्टा का प्रबंध यदि हो सके तो आधी छुट्टी के समय किया जाना चाहिए। इससे नीरसता समाप्त होती है, बच्चों का ज्ञान भी बढ़ता है और वे आनंद का अनुभव करते हैं। सहपाठीय कार्यक्रमों का उल्लेख भी समय-विभाग-चक्र में होना चाहिए।

**8. न्याय का सिद्धांत –** शिक्षक वर्ग में जहाँ तक हो सके काम का ठीक बँटवारा होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं है तो शिक्षकों में निराशा तथा निरुत्सातह भर जाता है।

इसी प्रकार सारे कार्यों को उनके महत्व के अनुसार बाँटना चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि किसी कार्य को बहुत समय दे दिया जाए और किसी की अवहेलना की जाए।

**9. शिक्षालय का भवन तथा सामग्री –** स्कूल में कमरे, अध्यापकों की संख्या मेज-कुर्सियाँ, प्रयोगशाला आदि का समय-विभाग-चक्र पर विशेष प्रभाव पड़ता है । एक ही शिक्षक वाले स्कूल का टाइम टेबुल बिल्कुल भिन्न होगा । कमरों की कमी के कारण कई बार एक ही कमरे में दो कक्षाएँ लगती हैं । ऐसी अवस्था में टाइम टेबुल इस प्रकार से बनाया जाए कि जब एक कक्षा पढ़ने के कार्य में लगी हुई है तो दूसरी लिखने के ऐसा करने से दोनों क्लासों की पढ़ाई सुचारु रूप से हो सकेगी।

**10. लोच का सिद्धांत –** समय-विभाग-चक्र दृढ़ नहीं बनाया जाना चाहिए । लोचदार समय-विभाग-चक्र अच्छा रहता है । कई बार कुछ विशेष बच्चों की विशेष आवश्यकताएँ होती हैं, उन्हेंर पूरा करने के लिए परिवर्तन करना अनिवार्य हो जाता है । अध्या पक के तबादले के साथ समय-विभाग-चक्र में भी परिवर्तन करने पड़ते है । यह आवश्यतक नहीं कि टाइम-टेबुल में विषय की अलग-अलग शाखाओं का भी वर्णन हो । यदि किसी कक्षा में अंग्रेजी के लिए 12 घंटे प्रति सप्तातह नियत किए जाएँ तो व्याकरण, अनुवाद तथा निबंध के घंटे अध्यापक पर ही छोड़ देने चाहिए। वही कक्षा के स्त र के अनुसार घंटों का विभाजन करे ।

इसी प्रकार स्कूल में कई बार किसी एक विषय का पढ़ाने वाला अध्यापक नहीं होता या कुछ समय से लिए स्कूल से किसी कारण अनुस्थित हो जाता है और छात्रों की पढ़ाई उस विषय में नहीं हो पाती। अध्यापक के आने पर उस कमी को पूरा करने के लिए अधिक समय देने के लिए समय-विभाग-चक्र में परिवर्तन करना पड़ता है।

हमें सदा स्मरण रखना चाहिए कि समय-विभाग-चक्र एक यंत्र है, न कि हमारा स्वामी। समय के अनुसार इसमें परिवर्तन होना चाहिए।

### 4.2.2.5 समय सारिणी बनाने में कठिनाइयाँ

आदर्श समय सारिणी बनाना अति कठिन है। इसके बनाने में अपूर्व दक्षता तथा योग्यता होनी चाहिए। टाइम टेबुल बनाना एक जटिल काम होता है। इसे बनाने में कभी भी जल्दोबाजी नहीं करनी चाहिए। जहाँ तक हो सके, दोषों को दूर करने का यत्नं करते रहना चाहिए और ऊपर बताए हुए नियमों का पालन करना चाहिए।

कोई भी टाइम-टेबुल प्रत्योक छात्र तथा शिक्षक को संतोष नहीं दे सकता। इसका कारण स्पष्ट है। कुछ छात्र बहुत शीघ्र थक जाते हैं और कुछ देर तक कार्य कर सकते हैं। कुछ छात्र एक ही विषय में रुचि रखकर बहुत देर तक पढ़ना चाहते हैं और कोई उस विषय को पढ़ने में जरा भी दिलचस्पी नहीं लेना चाहते। कक्षा में तेज व कमजोर दोनों प्रकार के बालक होते हैं।

जहाँ तक संभव हो सके प्राय: समय सारिणी ऐसा होना चाहिए जो हमारे छात्रों की मौलिक तथा रचनात्मक प्रवृत्तियों के विकास में सहायक सिद्ध हो।

प्राय: निम्नलिखित कठिनाइयाँ टाइम-टेबुल बनाने में उपस्थित होती हैं –

**1.** कई स्कूलों में धनाभाव के कारण शिक्षकों की कमी होती है। इसलिए कई शिक्षकों को ऐसे विषय पढ़ाने के लिए दिए जाते है, जिनमें उनका ज्ञान काफी नहीं होता।

**2.** प्राइमरी स्तर पर कई बार एक अध्यापक को एक ही घंटे में दो कक्षाएँ पढ़ानी पड़ती हैं, अत: सारे सिद्धांत धरे रह जाते हैं।

**3**. अंशकालिक अध्यापकों की नियुक्ति भी कई बार की जाती। अत: वे अपने अवकाश के समय में ही स्कूल आ सकते हैं।

**4.** जब अध्यापक कम हो तो थकान आदि का विचार छोड़ना पड़ता है। प्रत्येक अध्यापक को अधिक घंटे पढ़ाने के लिए दिए जाते हैं।

**5.** भवन की कठिनाई के कारण एक ही कमरे में कई बार कुछ विषयों की पढ़ाई के लिए दो कक्षाओं को इकट्ठे बैठना पड़ता है।

**6.** गणित का अथवा किसी और विषय का यदि एक ही अध्यापक है तो भी थकावट के सिद्धांत के अनुसार समय-विभाग-चक्र बनाना कठिन हो जाता है।

### 4.2.2.6 मुख्याध्यापक तथा समय-सारिणी

टाइम-टेबुल मुख्याध्यापक की अनेक प्रकार से सहायता करता है –

**1.** स्वीकृत पाठ्यक्रम योजना के अनुसार नियत समय के अंदर समाप्त होता है। प्रत्येक विषय को उसके महत्व के अनुसार तथा कठिनाई के अनुसार स्कूल में समय मिल जाता है।

**2**. मुख्याध्यापक लाभदायक पाठ्यांतर विषयों के लिए भी समय-विभाग-चक्र में समय देता है।

**3**. मुख्याध्यापक इसकी सहायता से शिक्षकों को उनकी योग्यता के अनुसार कछाएँ पढ़ाने के लिए देता है।

**4.** सभी छात्रों को कार्य में लगाया रखा जाता है।

**5.** छात्रों की शारीरिक तथा मानसिक स्थिति को ध्यान में रखकर कार्य का बँटवारा किया जाता है।

**6.** मुख्याध्यापक एक ही दृष्टि से जान सकता है कि स्कूल में किस कक्षा में किस समय, कौन-सा कार्य हो रहा है तथा कौन-सा शिक्षक कार्य कर रहा है।

यदि वह देखता है कि किसी समय कोई कक्षा खाली है तो वह झट उस कक्षा का उचित प्रबंध करता है। जिस दिन कोई शिक्षक पाठशाला में नहीं आता तो उसके घंटे दूसरे शिक्षकों में बाँट दिए जाते हैं, अत: कोई भी कक्षा खाली नहीं रहती। शिक्षक तथा छात्र जानते हैं कि समय-विभाजन-चक्र पर न चलने से प्रधानाध्यापक नाराज होगे, इसलिए वे ठीक समय पर अपनी कक्षाओं में जाते हैं। कोई भी छात्र कक्षा से बाहर नहीं रह सकता। टाइम-टेबुल सभी के सामने लक्ष्य निर्धारित करता है और शिक्षक तथा छात्र इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए यत्न करते हैं। कार्य निश्चित होने पर वे सारा वर्ष व्यस्त रहते हैं।

**अपनी प्रगति की जाँच 1 –**

1. समय सारिणी की आवश्यकता तथा महत्व बताइए।
2. समयचक्र बनाने के सिद्धांत बताइए-विभाग-।

### 4.2.3 पाठ्य पुस्तयक

प्राचीन भारत में पाठ्य पुस्तक के लिए ग्रंथ शब्द का प्रचलन था। ग्रंथ का अर्थ है- गूँथना, बाँधना, नियमित ढंग से जोड़ना, क्रम से रखना आदि। भोज-पत्र या ताड़पत्र को आचार्य लोग अपने शिष्यों के समक्ष क्रम से रखते थे। उनमें बीच में छेद करके किसी धागे से गूँथ भी देते थे। इसीलिए उन्हें ग्रंथ कहा जाता था। अंग्रेजी का 'बुक' शब्द जर्मन भाषा के 'बीक' शब्द से व्युत्पान्न, माना जाता है, जिसका अर्थ है – वृक्ष। फ्रांसीसी भाषा में भी इसका संबंध वृक्ष की छाल या तख्तीस पर लिखने से है। पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता साधन रूप में ही है, साध्य रूप में नहीं। पाठ्य-पुस्तकों को साध्य मान लेने से इनको रटना एवं संपूर्ण शिक्षा को किताबी बना देना महत्वपूर्ण हो जाता है, किंतु पाठ्य-पुस्तकों का उद्देश रटना नहीं है। इनके महत्व निम्नलिखित है।

#### 4.2.3.1 पाठ्य-पुस्त्कों का महत्व।

**1.** पाठ्य-पुस्तकों में अनेक प्रकार की सूचनाएँ एक ही स्थान पर मिल जाती है अत: सूचनाओं के संग्रह के लिए इनकी आवश्यकता है।

**2.** इनके प्रयोग से पाठ को पढ़ाने और पढ़ाने में सहायता मिलती है।

**3.**पठित पाठ को पुन:स्मरण करने-कराने में ये सबल साधन है।

**4.** इनसे ज्ञानोपार्जन में सहायता प्राप्त होती है।

**5.** अध्यापक अपनी सुविधानुसार बालकों की योग्य ता का ध्यान रखते हुए शिक्षा दे सकें, इसके लिए पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता है।

**6.** छात्रों को गृह-कार्य देने में इनसे सुविधा होती है।

**7.** भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने के लिए पाठ्य-पुस्तसकों का होना अति आवश्यक है। इनकी आवश्यकता अध्यापक और छात्र, दोनों को है।

**8.** संपूर्ण कक्षा को एक साथ पढ़ाने में पाठ्य-पुस्तकें बड़ी उपयोगी होती है। इनकी सहायता से एक अध्यापक अनेक छात्रों को एक साथ सरलता से पढ़ा सकता है। इससे समय और शक्ति का अपव्याय नहीं होता है।

**9.** बालकों की कल्पना-शक्ति को विकसित करता है।

**10.** उनके ज्ञान की सीमा को विस्तृत कराता है।

**11.** उनमें स्वाध्याय के प्रति रुचि को उत्पन्न करता है।

### 4.2.3.2 पाठ्य-पुस्तकों की विशेषताएँ

अच्छी पाठ्य-पुस्तकों की कुछ विशेषताएँ होती हैं, वे ही विशेषताएँ उसके गुण का निर्धारण करती है। पाठ्य-पुस्तकों के गुण को हम मुख्य रूप से दो दृष्टियों से देख सकते है। इन्हें पुस्तिकों के गुणों के दो रूप भी कहा जाता है। ये हैं –

1. आभ्यंतरिक,
2. बाह्य

आभ्यंतरिक गुण पुस्तक के वे भीतरी गुण है जो उसकी भाषा, शैली, पाठ्य-विषय आदि की दृष्टि से होते हैं। बाह्य गुणों में पुस्तक का आवरण, मुद्रण, साज-सज्जा आदि होते हैं।

पाठ्य-पुस्तुकों के मुख्यक गुण निम्न लिखित हैं –

**1. सोद्देश्यता –** प्रत्येक पाठ्य-पुस्तक की रचना कुछ उद्देश्यों को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए। पुस्तक में इन उद्देश्यों को पूरा करने की प्रेरणा विद्यमान होनी चाहिए। भाषा की पाठ्य-पुस्तक का उद्देश्य-भूगोल और विज्ञान का ज्ञान देना नहीं होता। अत: ऐसे विषयों पर आधारित पाठों का उद्देश्य केवल जानकारी प्रदान करना न होकर भाषा-ज्ञान बढ़ाना है। अत: पाठों को भाषा-ज्ञान वृद्धि का उद्देश्य पूरा करना चाहिए।

**2. उपयुक्तता –** मनोवैज्ञानिक, दृष्टि से मानव-व्यक्तित्व के विकास की कई अवस्थाएँ हैं; जैसे-बालावस्था, किशोरावस्था, प्रौढ़ावस्था आदि। इन अवस्थाओं की सामान्य प्रवृत्तियों के अनुकूल विषयों पर आधारित पाठ उपयुक्त होते हैं।

**3. विषय-विविधता –** एक ही प्रकार के विषय पर आधारित अनेक पाठों की अपेक्षा अनेक विषयों पर आधारित अच्छे होते हैं। इस प्रकार साहित्य की विभिन्न विधाओं का पुस्तक में प्रतिनिधित्व होना चाहिए। गद्य, पद्य, नाटक कहानी, निबंध आदि सभी विषयों पर पाठ होने चाहिए।

**4. रोचकता –** जिन विषयों में छात्रों की रुचि होती है, उनके अध्ययन में वे ऊबते नहीं और उन्हें शीघ्र समझ लेते हैं। रुचि का सिद्धांत आज का एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है और इस सिद्धांत को शिक्षा के प्रत्येंक क्षेत्र में व्यवहृत किया जाना चाहिए।

**5. जीवन से संबद्धता –** पाठ्य-पुस्तक में आए हुए विषय जीवन से संबंधित होने चाहिए। जीवन से असंबद्ध विषयों को सीखने में छात्रों को कठिनाई होती है।

**6. क्रमबद्धता –** पाठ्य-पुस्तकों के पाठ क्रमबद्ध होने चाहिए। यह क्रम छात्रों की आयु के अनुसार होना चाहिए तथा विषयों को 'सरल से कठिन की ओर' के सिद्धांत के आधार पर व्यवस्थित करना चाहिए।

**7. आदर्शवादिता –** पाठ्य-पुस्तक में कुछ पाठ ऐसे हों जो विद्यार्थी को नया संदेश, नई प्रेरणा एवं नए आदर्श प्रदान करने में सक्षम हों।

**8.व्यावहारिक –** कुछ पाठ ऐसे भी होने चाहिए जो बालक की व्यावहारिक बुद्धि को विकसित कर सकें और उसे लोकाचार की शिक्षा दे सकें।

**9. स्तरानुकूलता –** पाठ्य-पुस्तकों की भाषा छात्रों के अनुकूल होनी चाहिए। प्रारंभिक कक्षाओं में इनकी भाषा बहुत सरल हो और शनैः शनैः व्यवस्थानुसार भाषा के स्तर को बढ़ाया जाए।

**10. शुद्धता –** भाषा की दृष्टि से पाठ्य-पुस्तकों को शुद्ध होना चाहिए। यदि पुस्तक की ही भाषा अशुद्ध है तो यह आशा कैसे की जा सकती है कि छात्र उन्हें पढ़कर भाषा पर अधिकार कर सकेंगे।

**11. सार्थकता –** पाठ्य-पुस्तक का प्रत्येक शब्द सार्थक हो, प्रत्येक वाक्य तथा प्रत्येछक अनुच्छेद सार्थक हो। ऐसा न हो कि शब्द, वाक्य और अनुच्छेद अनावश्यक रूप से ठूँस दिए गए हों। अनावश्यक शब्दों या वाक्यों को पुस्तक में स्थान नहीं मिलना चाहिए।

**12. संबद्धता –** पुस्तक का प्रत्येक वाक्य दूसरे वाक्य से संबंधित हो। एक अनुच्छेद का दूसरे अनुच्छेद से संबंध हो। एक अनुच्छेद के अंदर विभिन्न वाक्य एक-दूसरे से संबद्ध होने चाहिए।

**13. भाषाधिकार वर्द्धकता –** पाठ्य-पुस्तकों की भाषा ऐसी होनी चाहिए कि छात्रों के शब्द-भंडार में वृद्धि और उनकी भाषा पर अधिकार बढ़ सके।

**14. मौलिकता –** पाठ्य-पुस्तक के पाठों में मौलिकता को छिन्न-छिन्न नहीं किया जाना चाहिए। कभी-कभी अध्यापक संकलन करते समय लेखक के मूल लेख को छोटा कर देते हैं और लेख को इस प्रकार मौलिकता विहीन कर देते है, ऐसा नहीं होना चाहिए। जो पाठ नए लिखे जाएँ, उनमें ध्यान रहे कि अभिव्यक्ति की नवीनता बनी रहे।

**15. शैलीगत विविधता –** प्रत्येक पाठ्य-पुस्तक में विभिन्न साहित्यिक विधाएँ तो होनी ही चाहिए, किंतु उन पाठों में श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, भयानक, वीर, शांत, आदि विविध रसों की कविताएँ हों और दोहा, चौपाई, कविता, सवैय, पद, तुकांत-अतुकांत आदि विविध छंद हों।

**16. नाम –** पाठ्य-पुस्तक के बाह्य गुणों में नाम का भी प्रभाव पड़ता है। पुस्तक का नाम सरल, संक्षिप्त स्पष्ट एवं आकर्षक हो। उससे विषय का भी किंचित आभास मिल जाना चाहिए।

**17.आकार –** पाठ्य-पुस्तक में पाठों का आकार बहुत छोटा या बड़ा न रहे। इस प्रकार संपूर्ण पुस्तिक का आकार भी न बहुत छोटा रहे, न बड़ा। छोटी कक्षाओं में पृष्ठ संख्या। कम रहे, किंतु बड़ी कक्षाओं में यह संख्या धीरे-धीरे बढ़ती जाए।

**18. कागज –** कागज बहुत पतला न हो और ऐसा न हो जिसकी चमक आँखों पर पड़े। यह इतना पुराना भी न हो कि शीघ्र फट जाए और छात्र को वर्ष में दो बार नई किताब खरीदनी पडे। छोटी कक्षाओं में बड़े आकार के कागज की पाठ्य-पुस्तक हो सकती है।

**19. मुद्रण –** पुस्तक की छपाई शुद्ध होनी चाहिए। अक्षर बहुत छोटे न हों। प्रारंभिक कक्षाओं में मोटे अक्षरों में छपाई हो और धीरे-धीरे ऊपर की कक्षाओं में अक्षर बारीक हो सकते है। अभ्यासार्थ दिए प्रश्नों के अक्षर मूल पाठ के अक्षर से भिन्न हों। शीर्षकों के लिए लिए भी अलग टाइप के अक्षर हों। शब्दों के बीच की दूरी एक वाक्य से दूसरे वाक्य। की दूरी, अनुच्छेद-योजना आदि पर भी ध्यान रहे।

**20. चित्र –** चित्रों से विषय स्पष्ट हो जाते हैं। पुस्तक की उपयोगिता में वृद्धि के लिए चित्र होने चाहिए। प्रारंभिक कक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों में चित्र अवश्य हों। धीरे-धीरे ऊँची कक्षाओं में इन चित्रों की कमी होती जाए और उच् कक्षाओं में इन चित्रों की विशेष आवश्यकता नहीं।

**21. जिल्द –** पाठ्य-पुस्तकों की जिल्दा मजबूत होनी चाहिए। छोटी कक्षाओं में छात्र किताबें बहुत फाड़ते हैं और दुभार्ग्यवश आजकल उन्हीं की जिल्द सबसे कमजोर होती है।

**22. आवरण –** पाठ्य-पुस्तक का आवरण आकर्षक होना चाहिए। छोटे बालक रंग-बिरंगे चित्रों को बहुत पसंद करते हैं! अत: उनकी पुस्तकों के आवरणों में विभिन्न चित्र हों तो अच्छां है। ऊँची कक्षाओं की पुस्तकों के आवरण सादे, किंतु कलात्मक हों।

**23.मूल्य –** पाठ्य-पुस्तक का मूल्य उचित होना चाहिए, जिससे कि छात्र उसे सरलता से खरीद सकें और अभिभावकों पर अधिक भार न पड़े।

उपर्युक्त गुणों में प्रथम पंद्रह गुण पाठ्य-पुस्तकों के आभ्यं तरिक गुण हैं। इनमें भी निम्नलिखित प्रकार के गुणों का उल्लेख किया गया है-

(अ) विषय-वस्तु की दृष्टि से आभ्यंतरिक गुण। क्रम संख्याह 1 से 8 तक वर्णित हैं।
(आ) भाषा की दृष्टि से आभ्यंतरिक गुण। क्रम संख्या 9 से 13 तक वर्णित हैं।
(इ) शैली की दृष्टि से आभ्यंतरिक गुण चौदहवें और पंद्रहवें हैं।
(ई) पाठ्य-पुस्तकों के बाह्य गुणों में क्रम संख्या। 16 से क्रम संख्या 23 तक की चर्चा की गई है।

### 4.2.3.3 पाठ्य-पुस्तयकों की समीक्षा

पाठ्य-पुस्तकें दो प्रकार की होती हैं –

सूक्ष्मा अध्ययनार्थ पुस्तकें

सूक्ष्मा अध्ययन वाली पुस्तकों का अध्ययन बड़ी गंभीरता से किया जाता है। इनका उद्देश्य बालकों के शब्द-भंडार में बृद्धि करना, उनका भाषा-ज्ञान बढ़ाना उनके सूक्ति-भंडार या लोकोक्ति-भंडार में वृद्धि करना एवं प्रसंगों को भली-भाँति स्पाष्ट करना है। इन पुस्तकों को ही साधारणतया पाठ्य-पुस्तकें कहा जाता है। इन्हें गहन अध्ययन की पुस्तकें भी कहते हैं। इनके अध्ययन से छात्रों के ज्ञान में वृद्धि होती है और वे लेखक या कवि के विचारों से परिचय प्राप्त कर लेते हैं।

**विस्तृत अध्येयनार्थ पुस्तकें**

विस्तृत अध्ययन के लिए सहायक पुस्तकों का प्रयोग द्रुत पाठ के लिए होता है। इसमें सीखी हुई शब्दावली का ही प्रयोग किया जाता है। इनका उद्देश्यो बालकों को द्रुत गति से पढ़ने का अभ्यास कराना है। छात्र शीघ्र गति से पुस्तक को पढ़कर भी उसका अर्थ समझ लें, यही इस पुस्तक का उद्देश्य होता है। शब्दार्थ को स्पष्ट करना एवं व्याख्या करना इन पुस्तकों के शिक्षण का उद्देश्य नहीं होता। कहीं-कहीं आवश्यकता पड़ने पर ही शब्दकोष की सहायता लेनी पड़गी।

**अपनी प्रगति की जाँच 1 –**

1. पाठ्यपुस्तक के गुण बताइए।
2. पाठ्यपुस्तक के महत्व बताइए।

## 4.3 सारांश

छात्र कक्षा में या कक्षा से बाहर, विद्यालय की सीमा के अंतर्गत किसी स्थल पर जो कुछ अनुभव करता है वह सब पाठ्यचर्या है। विद्यार्थियों की रुचि एवं योग्यता के अनुसार पाठ्यचर्या को विभिन्न भागों में बंटा जा सकता है। पाठ्यचर्या में ज्ञानात्मक भावात्मक, क्रियात्मक तीनों पक्षों से संबंधित तथ्यस्पष्ट होते हैं, जबकि पाठ्यक्रम में केवल ज्ञानात्मक पक्ष से संबंधित तथ्य की क्रमबद्ध होते हैं। इस प्रकार पाठ्यचर्या व्यापक होते हैं और पाठ्यक्रम सकुंचित होता है। योजना सा समय-सारणी जिससे प्रतिसदिन के समय को विभिन्न विषयों एवं क्रियाओं के बीच विभाजित किया गया हो, विद्यालय की आंतरिक व्यवस्थान के लिए बहुत ही आवश्यक तत्व है। विद्यालय मे समय-सारणी का स्थान महत्वपूर्ण है, क्योंवकि यह वह दर्पण है, जिसमें विद्यालय का समस्त। शैक्षिक कार्यक्रम प्रतिबिंबित होता है। वह शिक्षकों के कार्य को व्यवस्थित करती है तथा उन्हें अपने संतुलन को बनाए रखने में भी सहायता प्रदान करती है। पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता साधन रूप में ही है, साध्य रूप में नहीं। गृह-कार्य देने एवं कल्पना-शक्ति का विकास करने आदि विभिन्न कार्यों को पाठ्यपुस्तक से साधित कर सकते है। एक अच्छ पाठ्य-पुस्तकों की कुछ विशेषताएँ होती हैं, वे ही विशेषताएँ उसके गुण का निर्धारण करती है। वे गुण आभ्यंतरिक और बाह्य के रूप में दो भाग है।

## 4.4 अपनी प्रगती की जाँच के लिए अपेक्षित उत्तर

अपनी प्रगति की जाँच –
उत्तर- अध्याय 4.2 देखें।

## 4.5 शब्दावली

## 4.6 कार्य आवंटन

**1.** पाठ्यचर्या एवं पाठ्यक्रम मेंसंबंध स्पष्ट करते हुए विभिन्न सिद्धांतों को बताइए।
**2.** समय सारणी के प्रकारों को वर्णन करें।

## 4.7 क्रियाएँ

**1.** पाठ्यपुस्तक की आवश्यकता एवं महत्व को स्पष्ट करें।
**2.** समय सारणी निर्माम के सिद्धांतों की विवेचना कीजिए।

## 4.8 प्रकरण अध्ययन (केस स्टडी)

**1.** पाठ्यचया के प्रकार स्पष्ट( कीजिए।

**2.** समय-विभाग-चक्र बनाने में कठिनाइयों की चर्चा करें।

## 4.9 संदर्भ पुस्तकें


**1.** गुप्ता , एस.पी, (2016), “शिक्षा के दार्शनिक परिप्रेक्ष्य ”, इलाहाबाद, शारदा पुस्तक भवन।

**2.** माथुर, एस.एस, (2005), “शिक्षा के दार्शनिक तथा सामाजिक आधार'', आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर।

**3.** तरुण, हरीवंश, (2006), “मानक शिक्षा दर्शन एवं शैक्षिक समाजशास्त्र '', नई दिल्लीव, प्रकाशन संस्थान।

**4.** मालवीय, राजीव, (2016), “ शिक्षा के मूल सिद्धांत'', इलाहाबाद, शारदा पुस्तक भवन।

**5.** लाल, रमन बिहारी, (2006), “शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजशास्त्रीय सिद्धांत'', मेरठ, रस्तोगी पब्लिकेशन।

**6.** शुक्ला, के.के, परिहार, ए.जे.एस (2011), “शिक्षा के दार्शनिक तथा समाजशास्त्री य आधार “मेरठ, आर.लाल. बुक डपो।

7. सुखिया, एस.पि, (1996), “विद्यालय प्रशासन एवं संगठन “आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर।

8. आग्रवाल, जे.सि (2008), “शैक्षिक तकनीकि एवं प्रबंध के आधार'', आगरा, अग्रवाल पब्लिकेशन्स।


ज्ञान शांति मैत्री